हिन्दी-गौरव-ग्रंथ-माला—८२वाँ ग्रंथ

विश्व की महिलाएँ

[संशोधित और परिवर्द्धित]

लेखक
श्री राजेन्द्र सिंह गौड़, एम० ए०

प्रकाशक
साहित्य-भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद

तृतीय संस्करण] १९४५ [मूल्य १॥)

प्रकाशक
साहित्य-भवन लिमिटेड,
प्रयाग।

मातृ-चरण-कमलेषु

दो शब्द

किसी देश का इतिहास उस देश की महिलाओं का इतिहास है। जिस देश में जैसी महिलाएँ होती हैं, उस देश का इतिहास भी वैसा ही बनता है। एक समय था जब हमारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी तथा द्रौपदी-जैसी साध्वी एवं धर्मपरायण महिलाएँ हुआ करती थीं; परन्तु महाभारत के पश्चात् समय ने ऐसा पलटा खाया कि हम अपने प्राचीन आदर्शों से गिर गये। हमारे विचारों और भावों में इतना परिवर्तन हुआ कि हमें स्त्रियों की स्वतंत्रता और उनका विद्या-प्रेम खटकने लगा। हमने उन्हें भोग-विलास का उपकरण समझकर घर की चहारदीवारी के भीतर बन्द कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि हमारी सन्तान कायर और मूर्ख हो गयी और हम विदेशियों के दास बन गये। महिलाओं को वर्तमान समय में दासी बनाकर हम स्वयं दास हो गये।

हर्ष की बात है कि वर्तमान समय में हमारे देश के सामाजिक और राजनीतिक नेता इस ओर यथेष्ट ध्यान दे रहे हैं। विद्या के प्रचार और राष्ट्रीय जागरण ने हमारी आँखों के सामने से अन्धविश्वास का कुहासा दूरकर दिया है और अब हम यह अनुभव करने लगे हैं कि हम केवल उसी समय सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त कर सकेंगे जब हमारे देश के स्त्री-पुरुष कन्धे-से-कन्धा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में कार्य करने लगेंगे। इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए नवयुवतियों और बालिकाओं के सामने ऐसे चरित्रों को रखने की आवश्यकता है जिन्होंने अपने देश के स्वतंत्रता-संग्राम में भाग लिया है और अपनी भक्ति एवं साहित्यिक तथा वैज्ञानिक सेवाओं से संसार के महिला-समाज को गौरवान्वित किया है। प्रस्तुत पुस्तक इसी विचार से प्रेरित होकर लिखी गयी है।

इस पुस्तक में विभिन्न देशों की २२ महिलाओं का जीवन-वृत्तान्त दिया गया है। भारत से आठ और अन्य देशों से चौदह आदर्श महिलाएँ ली गयी हैं। वैदिक तथा महाभारत-काल की स्त्रियों का जीवन-वृत्तान्त हमने जान-बूझकर इसलिए नहीं दिया है कि उनके विषय में हमारी माताओं और बहनों को बहुत-सी बातें ज्ञात हैं। जीवन-चरित्र लिखते समय इस बात का विशेष रूप से ध्यान रखा गया है कि प्रत्येक महिला हमारी बालिकाओं के लिए आदर्श माता, आदर्श पत्नी और आदर्श देश-सेविका हो, ताकि उन्हें अपना भावी-पथ निर्माण करने और कार्य-शैली निर्धारित करने में सुविधा हो।

अन्त में हम उन लेखकों के हृदय से आभारी हैं जिनकी रचनाओं से हमें इस पुस्तक को तैयार करने में सहायता मिली है। इसके साथ ही हम साहित्य-भवन के प्रधान संचालक श्री बेनीप्रसाद टंडन एम० ए० के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करके हमें प्रोत्साहित किया है। हम महिला-विद्यापीठ के सुयोग्य रजिस्ट्रार श्री रामेश्वर प्रसाद बी० ए० के भी अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक को विद्या-विनोदिनी-परीक्षा के लिए स्वीकृत करके हमारी रचना को सम्मानित किया है। वस्तुतः इस प्रकार की पुस्तक लिखने के लिए सर्वप्रथम आपने ही हमें प्रोत्साहित किया था। इसलिए इस पुस्तक की सफलता का सारा श्रेय आपको ही प्राप्त है। हमें पूर्ण आशा है कि यह पुस्तक अपने उद्देश्य को चरितार्थ करने में सफल होगी।

भगवतबाग, अतरसुइया
प्रयाग।
बसंत-पंचमी, संवत् १९९७

राजेन्द्र सिंह गौड़

विषय-सूची

महारानी अहल्याबाई

अठारहवीं शताब्दी की बात है। मरहठों की सेना औरङ्गाबाद के एक साधारण गाँव के बाहर, मैदान में, पड़ी हुई थी और उसे देखने के के लिए बालक-बालिकाओं की भीड़ लगी हुई थी। सहसा, उस भीड़ को चीरती हुई, नौ वर्ष की एक बालिका आगे बढ़ी और सेनापति के सामने आकर खड़ी हो गयी। सेनापति ने उसे नीचे से ऊपर तक देखा। वह अधिक सुन्दर न थी। रूप-रङ्ग साँवला था; वस्त्र ग्रामीण थे; परन्तु उसके प्रशस्त ललाट और मुख-मण्डल पर एक विचित्र आभा खेल रही थी। सेनापति ने उसे एक बार फिर देखा और अपनी गोद में लेकर बड़े प्रेम से पूछा—क्या चाहती हो बेटी?

इस प्रश्न से बालिका भयभीत नहीं हुई। मुसकराते हुए बोली—

'तुम्हें देखने आयी हूँ।'

'मुझे?'

'हाँ, तुम्हें! मैं तुम्हारा नाम जानती हूँ?'

'अच्छा, बताओ मैं कौन हूँ?'

'मल्हारराव होलकर। मैंने अपने पिता से तुम्हारा नाम सुना है।'

'तुम्हारे पिता का क्या नाम है?'

'श्री मनकोजी शिंदे।'

'वह कहाँ रहते हैं?'

'इसी गाँव में। इसका नाम चौंट है।'

'और तुम्हारा क्या नाम है?'

'अहल्या।'

'तुम मेरे पुत्र से विवाह करोगी?'

बालिका इस प्रश्न का उत्तर न दे सकी। वह लज्जित हो गयी और भागकर फिर बालिकाओं की टोली में मिल गयी; परन्तु मल्हारराव के हृदय पर उसने अपने भोलेपन की जो छाप लगा दी वह अमिट रही।

जन्म तथा परिवार

मनकोजी शिंदे बीड़-तालुका के एक साधारण किसान थे। चोंट में उनका घर था। उसी के आस-पास उनके खेत थे। खेती ही उनकी जीविका का मुख्य साधन था; परन्तु मरहठों में उनका बहुत सम्मान था। वह सिंधिया के वंशज थे। कहा जाता है कि विवाह के पश्चात् बहुत दिनों तक उनके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हुई। इससे उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। अन्त में एक दिन वह भी आया जब उनके घर में एक कन्या ने जन्म लिया। इससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने गौतम ऋषि की पत्नी अहल्या के नाम पर उसका नाम अहल्याबाई रखा। आधुनिक खोजों के अनुसार उसका जन्म सन् १७२३ ई० के लगभग माना जाता है।

शिक्षा और धार्मिक प्रवृत्ति

उस समय महाराष्ट्र में शिक्षा का अधिक प्रचार न था। लोग पढ़ना-लिखना व्यर्थ की बात समझते थे। इसलिए अहल्याबाई को उच्चकोटि की शिक्षा न मिल सकी। उसने एक सदाचारी ब्राह्मण से कुछ पढ़ना-लिखना सीखा। प्रतिभा-सम्पन्न होने के कारण उसने थोड़े ही दिनों में हिन्दू-धर्म सम्बन्धी मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का अच्छी तरह अध्ययन कर लिया। इसका उसके जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। वह बाल्यावस्था से ही पाप और पुण्य में भेद समझने लगी और उसी के अनुसार उसने अपना जीवन बनाना आरम्भ कर दिया। इस छोटी अवस्था में भी जब तक वह ईश्वर-पूजन और पुराण-श्रवण न कर लेती थी, तब तक वह भोजन नहीं करती थी। ऐसी थी उसकी धर्म-परायणता! ऐसा था उसका ईश्वर के प्रति प्रेम! उसका स्वभाव अत्यन्त कोमल था। दीन-दुखियों की दशा देखकर उसका हृदय द्रवित हो जाता था। उसमें असीम दया थी; अद्भुत भावुकता थी।

अहल्या साँवले रङ्ग की साधारण बालिका थी। उसका डील-डौल मध्यम

श्रेणी का था; परन्तु उसकी तेजस्वी और बड़ी-बड़ी आँखों में विचित्र आकर्षण था। उसका प्रशस्त ललाट, उसकी काली और घनी भृकुटी, उसकी लम्बी नासिका और गोल-मुख से उसके चरित्र की महानता और गुणों की गम्भीरता प्रकट होती थी।

विवाह

अहल्या साधारण किसान बालिका थी। गाँव के प्राकृतिक वातावरण में उसका पालन-पोषण हुआ था। इसलिए उसके जीवन में सादगी और स्वाभाविकता थी। वह सुन्दर न होते हुए भी अत्यन्त सुन्दर थी, साधारण होते हुए भी महान थी। कठिन परिश्रम से उसका शरीर निखर आया था। ६ वर्ष की अवस्था ही में वह चौदह वर्ष की जान पड़ती थी। उस समय बाल-विवाह का प्रचलन था। इसलिए मनकोजी शिंदे को चिन्ता हुई अहल्या के लिए वर की। बड़ी दौड़-धूप की गयी; परन्तु उसके योग्य कोई वर न मिला। अन्त में वह थककर बैठ गये। दैवयोग से इस समय मल्हारराव होलकर भी अपने पुत्र खंडेराव के लिए सुयोग्य कन्या की खोज में थे। एक दिन उन्होंने किसी युद्ध से लौटकर अहल्याबाई के गाँव के बाहर एक मैदान में पड़ाव डाल दिया। सौभाग्यवश अहल्याबाई से उनकी अचानक भेंट हो गयी। वह उसके गुणों पर मुग्ध हो गये। उन्होंने उसके माता-पिता के सम्बन्ध में पूछ-ताछ आरम्भ की। उस समय अहल्याबाई के गुरू वहीं थे। उन्होंने उसके परिवार के सम्बन्ध की सभी बातें मल्हारराव को बता दीं। अपनी इच्छानुसार परिचय पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अहल्याबाई के पिता से मिलकर अपनी इच्छा प्रकट की। मनकोजी शिंदे ने घर बैठे अपनी मुराद पूरी होते देखकर अपनी एकमात्र कन्या अहल्याबाई का विवाह मल्हारराव होलकर के पुत्र खंडेराव से करना स्वीकार कर लिया। इस प्रकार, सन् १७३५ ई० में, दोनों एक प्रेम-सूत्र में बाँध दिये गये।

अहल्या बालिका से वधू बन गई और अपने झोंपड़े से निकलकर इन्दौर के राज-भवन में पहुँची। यद्यपि इस समय उसके जीवन में महान परिवर्तन उपस्थित हो गया था; तथापि जिन सद्गुणों के आधार पर उसने

इतना वैभव अर्जन किया था, उनको त्यागना उसने उचित न समझा। एक राजा की पुत्र-वधू होने पर भी उसमें वही धार्मिकता, वही स्वभाव की कोमलता और वही सेवा-भाव बना रहा; जो उसने बाल्यावस्था में धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ कर प्राप्त किया था। यही कारण था कि मल्हारराव होलकर उसको अपने पुत्र से भी अधिक प्यार करते थे, और उनकी धर्म-पत्नी गौतमाबाई उसकी सेवा-टहल तथा घर-गृहस्थी के काम से अत्यन्त प्रसन्न रहा करती थीं। उसके पति खंडेराव जो अब तक राज्य-कार्य से उदासीन रहा करते थे, अपने पिता की सहायता में तत्पर रहने लगे। इस प्रकार अहल्याबाई ने थोड़े ही दिनों में सब के हृदय पर अपने सद्गुणों की छाप लगा दी। वह सब की प्रेम-पात्री बन गई। कालान्तर में देपालपुर स्थान पर सन् १७४५ ई० में उसके गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। इस नवजात शिशु का नाम मालीराव रखा गया। इसके तीन वर्ष पश्चात् सन् १७४८ ई० में, एक कन्या भी उत्पन्न हुई। इसका नाम मुक्ताबाई रखा गया।

दाम्पत्य जीवन

मल्हारराव पौत्र और पौत्री पाकर बड़े प्रसन्न हुए; परन्तु दुर्दैव से यह न देखा गया। सन् १७५४ ई० में खंडेराव अजमेर के जाटों से युद्ध करते समय मारे गये। इस दुर्घटना से मल्हारराव को बड़ा दुःख हुआ। जब अहल्याबाई को यह हृदय-विदारक समाचार मिला, तब वह उस समय की प्रथा के अनुसार सती होने के लिए तैयार हुई; परन्तु मल्हारराव के अधिक आग्रह करने और समझाने-बुझाने पर उसने अपना विचार त्याग दिया।

पति की मृत्यु

मल्हारराव वृद्ध हो गये थे। पुत्र-वियोग ने उनकी कमर और भी तोड़ दी थी। अतएव अब उनके लिए राज्य-भार सँभालना कठिन हो रहा था। मालीराव अभी नासमझ बच्चा था। इन सब बातों का विचार करके मल्हारराव ने शासन का कुल भार अहल्याबाई के हाथों में दे दिया।

अहल्याबाई प्रबन्ध-कार्य में बड़ी चतुर थीं। वह वार्षिक कर लेती थीं, आय-व्यय का लेखा देखती थीं और उसकी जाँच करती थीं। वह स्वयं

प्रत्येक कार्य की देख-रेख रखती थीं और प्रजा के सुख के लिए अपने सुख का त्याग करने पर सदैव तत्पर रहती थीं। प्रजा भी उसके शासन से बहुत संतुष्ट और प्रसन्न थी। वह अहल्याबाई को देवी समझती थी और उसके गुणों पर मुग्ध थी।

मल्हारराव की मृत्यु

मल्हारराव अपनी पुत्र-वधू की ऐसी योग्यता पर बड़े प्रसन्न रहते थे; परन्तु दुर्दैव से यह भी न देखा गया। वह भी अधिक दिनों तक जीवित न रह सके। सन् १७६५ ई० में ग्वालियर राज्य के निकट, आलमपुर में, वह अचानक बीमार पड़े और देखते ही देखते चल बसे। तुकोजी ने उनके शरीर का अन्तिम संस्कार किया। अहल्याबाई ने उनके स्मरणार्थ अधिक द्रव्य व्यय करके उस स्थान पर एक छतरी बनवा दी और उन्हीं के नाम पर एक गाँव बसा दिया। यह गाँव ग्वालियर से ४० मील की दूरी पर मुल्हरगंज के नाम से अब तक प्रसिद्ध है।

मल्हारराव होलकर की मृत्यु के उपरान्त उनका पौत्र मालीराव इन्दौर की गद्दी पर बैठा। वह बड़ा चरित्रहीन था और अपना समय भोग-विलास में व्यतीत करता था। माता की धार्मिकता उसे बिलकुल नापसन्द थी। इतिहास-लेखकों का कहना है कि उसकी माता निर्धन ब्राह्मणों को जो वस्त्र दान में देती थी, उसमें

मालीराव की मृत्यु

वह विषैले जन्तु, सर्प-बिच्छू इत्यादि छिपा दिया करता था और जब वे उन्हें काटते थे तब वह उतना ही प्रसन्न होता था जितना उसकी माता दुखी होती थी। मालीराव के इस दुर्व्यवहार से अहल्याबाई का चित्त उसकी ओर से फट-सा गया था; परन्तु पुत्र पुत्र ही है। वह कितना ही दुराचारी क्यों न हो; माता का स्नेहमयी अन्तःकरण उसे भुलाने की ही चेष्टा करता है। यही कारण था कि जब वह किसी दैवी प्रकोप से नौ महीने शासन करने के पश्चात् बीमार पड़ा, तब अहल्याबाई को बहुत दुख हुआ। बड़े-बड़े हकीम और वैद्यों का इलाज कराया गया, परन्तु उसे कुछ भी लाभ न हुआ। कालान्तर में उसकी भी मृत्यु हो गयी। दुर्दैव ने उसके हाथ के सहारे की वह अन्तिम लकड़ी भी छीन ली। अब इस संसार में उसे सान्त्वना देनेवाली

केवल उसकी पुत्री रह गयी।

मालीराव की मृत्यु के पश्चात् पुण्यशीला अहल्याबाई ने शासन-प्रबंध का सारा कार्य अपने हाथ में ले लिया। उस समय गंगाधर यशवन्त इन्दौर का दीवान था। वह बड़ा छली और विश्वासघाती था।

इन्दौर पर आक्रमण

उसने अहल्याबाई को हटाकर अपनी प्रभुता जमाने के लिए एक चाल सोची। अहल्याबाई बड़ी भावुक थी। वह गंगाधर यशवन्त का भाव ताड़ गयी। इसलिए उसने अपने आगे उनकी एक भी न चलने दी। इससे गङ्गाधर यशवन्त असंतुष्ट हो गया। उसने पेशवा के चचा रघुनाथराव को पूना से इन्दौर पर आक्रमण करने के लिए आमन्त्रित किया और अपनी सम्पूर्ण सहायता का वचन दिया। लालची राघोबा इन्दौर पर पहले ही से दाँत लगाये हुए था। इसलिए गङ्गाधर यशवन्त का निमन्त्रण पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हो गया और आक्रमण की तैयारी करने लगा। जिस समय अहल्याबाई को यह सूचना मिली उस समय उसने भोंसले, गायकवाड़ आदि मराठे-माण्डलीक-नरपतियों से सहायता की याचना की। सब लोग धर्मपरायण विधवा की रक्षा के लिए तैयार हो गये। बड़ौदा के गायकवाड़ ने एक सेना भेज दी और जन्हुजी भोंसला स्वयं सेना लेकर होशङ्गाबाद से चल पड़ा। तुकोजीराव सेनापति बना दिया गया और सेना तैयार करने की आज्ञा दे दी गयी। इस प्रकार थोड़े ही समय में युद्ध की सारी तैयारी हो गयी। ऐसे अवसर पर अहल्याबाई ने पेशवा माधवराव तथा उसकी धर्मपत्नी रामबाई को एक अत्यन्त करुणाजनक पत्र लिखा। इस पत्र का सामयिक प्रभाव पड़ा। माधवराव ने राघोबा के विरुद्ध अपनी सम्मति प्रकट की। इससे अहल्याबाई का साहस और भी बढ़ गया।

राघोबा ने अहल्याबाई को अब तक अबला के रूप में ही देखा था। वह यह न जानता था कि अन्तःपुर की एक कुल-वधू इतने शीघ्र सेना का सङ्गठन कर सकती है। उसे आश्चर्य हुआ उसके साहस पर, उसकी बुद्धि पर, उसकी शासन-पटुता पर, परन्तु अब सोचने का समय न था। दोनों ओर से युद्ध की घोषणा हो चुकी थी। ऐसी दशा में पीछे हटना मर्यादा के

विरुद्ध था। इसलिए राघोबा ने सिप्रा नदी के दक्षिण तट की ओर प्रस्थान किया। यह समाचार पाते ही तुकोजीराव उसी नदी के किनारे, उज्जैन के पास, एक घाटी में डट गया। दोनों ओर से युद्ध के नगाड़े बजने लगे। राघोबा को विश्वास था कि इन्दौर पर विजय पाना सहज नहीं है। उसे पेशवा माधवराव की सम्मति का भी पता चल गया था। इसलिए उसका साहस छूट गया। वह पालकी में बैठकर तुकोजी के पास आया और दूसरे दिन उनके साथ इन्दौर गया। वहाँ उसने अहल्याबाई से भेंट की। फलतः युद्ध बन्द हो गया। राघोबा वहाँ एक मास तक पड़ा रहा। इसके पश्चात् वह पूना लौट गया। इस प्रकार षड्यंत्रकारी गङ्गाधर की समस्त कुचेष्टाएँ विफल हो गयीं। अहल्याबाई उसकी जान ले सकती थी; परन्तु उसने ऐसा न किया। वह उसका पुराना सेवक था। इसलिए उसने उसे उसी पद पर पुनः नियुक्त कर दिया। अहल्याबाई का यह सद्व्यवहार देखकर गङ्गाधर यशवन्त को इतनी ग्लानि हुई कि उसने संन्यास ले लिया।

अहल्याबाई बड़ी उदार थी। वह अपनी प्रजा को अपना पुत्र समझती थी और दिन-रात उसके कष्ट-निवारण की चिन्ता में डूबी रहती थी। जब संसार सोता था; तब वह जागती थी। इतना करने पर

मुक्ताबाई का विवाह भी इन्दौर-राज्य में चोर, डाकुओं और लुटेरों ने बड़ा उत्पात मचा रखा था। दिन-दहाड़े चोरियाँ होती थीं और डाके पड़ते थे। अहल्याबाई ने अपनी प्रजा को इस दुःख से मुक्त करने के लिए कई उपाय सोचे; परन्तु सभी निष्फल हुए। अन्त में, उसने अपने राज्य के प्रतिष्ठित व्यक्तियों की एक सभा की। इस सभा में उसने एक ऐसे वीर पुरुष का आवाहन किया जो उसकी प्रजा को दिन-दहाड़े डाका डालनेवालों से मुक्त कर सके। इस प्रस्ताव को सुनकर, यशवन्तराव फाणशे उठ खड़ा हुआ। अहल्याबाई ने धन और सेना से उसकी सहायता की और राज्य की रक्षा एवं सुप्रबन्ध के लिए उसे सहर्ष विदा किया। यशवन्तराव ने दो ही वर्षों में राज्य को लुटेरों से मुक्त कर दिया। उसके इस कार्य से अहल्याबाई बड़ी प्रसन्न हुई और उसने अपनी पुत्री मुक्ताबाई का विवाह यशवन्तराव के

साथ कर दिया। कालान्तर में मुक्ताबाई के गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। इसका नाम नत्थोबा रखा गया। अहल्याबाई ने बहुत कुछ खोकर एक नाती पाया। इसने उसके हृदय के पुराने घाव भर दिये।

अहल्याबाई अब निश्चिन्त थी। तुकोजी उसका प्रधान सेनापति था। वह उसका बहुत विश्वास करती थी। उसी की सहायता से उसने इन्दौर पर लगभग ३० वर्ष तक बड़ी योग्यतापूर्वक शासन किया।

इन्दौर राज्य का शासन-प्रबन्ध

इन्दौर का सम्पूर्ण राज्य तीन भागों में विभाजित कर दिया गया। पहला भाग सतपुड़ा पहाड़ी के उस पार दक्षिण की ओर फैला हुआ था। दूसरा भाग सतपुड़ा के उत्तर की ओर, महेश्वर के नाम से प्रख्यात था। तीसरा भाग महेश्वरी के उत्तर में राजपूताने तक फैला हुआ था। इन तीनों भागों की देख-रेख वह स्वयं तुकोजी की सहायता से करती थी। कोष पर उसका निजी अधिकार था। वह उसे अपनी इच्छानुसार व्यय करती थी। कभी-कभी व्यय के सम्बन्ध में दोनों में वाद-विवाद भी हो जाता था; परन्तु इससे अहल्याबाई के मन में किसी प्रकार का द्वेष भाव न आता था। तुकोजी भी अपने हृदय में किसी प्रकार का मैल नहीं आने देते थे। वह अहल्याबाई को सदैव मातेश्वरी कहा करते थे। सच तो यह है कि अहल्याबाई ने अपने पुत्र मालीराव को खोकर तुकोजी को प्राप्त किया था।

तुकोजी ने अहल्याबाई की आज्ञा से राज्य का अच्छा प्रबंध किया। उन्होंने प्रजा की भलाई के लिए प्रत्येक उपाय से काम लिया। बाहर का कुल काम उन्हीं के हाथ में था। अहल्याबाई भीतर का काम देखती थी। उसका अधिक समय शासन-कार्य संचालन में व्यतीत होता था। इतना ही नहीं इन कार्यों से छुट्टी पाने पर वह धार्मिक ग्रन्थों का अवलोकन करती थी। वह नित्य प्रातःकाल उठती थी और स्नानादि के पश्चात् पूजा-पाठ करती थी। इसके बाद वह भिक्षुकों को भोजन कराती थी और थोड़ी देर आराम करके राज्य-सभा में उपस्थित होती थी। राज-सभा में वह राजमन्त्रियों से सम्भाषण करती थी और शासन की सभी बातों का उचित प्रबन्ध करती थी। इस समय

जो प्रार्थी आता था, उसकी बातों को वह बड़े ध्यान से सुनती थी और भरसक उसे सन्तुष्ट करती थी। इस प्रकार वह दिन भर काम में व्यस्त रहती थी। सूर्यास्त के पश्चात् वह पूजा-पाठ करती थी और नौ बजे फिर शासन के कामों में व्यस्त हो जाती थी। एक नारी का इतना परिश्रम, इतना त्याग, व्यर्थ न हुआ। इन्दौर की सूखी खेती हरी हो गई। प्रजा शान्तमय जीवन व्यतीत करने लगी। देश धन-धान्य से परिपूर्ण हो गया। रिक्त राज्य-कोष धन से भर गया।

अहल्याबाई के शासन-काल में बहुत कम युद्ध हुए। वह बहुत कम सेना रखती थी। उसके नाम का ऐसा प्रभाव था कि अड़ोस-पड़ोस वाले समर-लोलुप राजाओं को उसके राज्य पर आक्रमण करने का साहस ही द्वेषियों के आक्रमण नहीं होता था। एक बार उदयपुर के शासक, चन्द्रावत, ने अपनी पराधीनता की बेड़ियों को तोड़ने के विचार से सन् १८०० ई० में, तुकोजी की सेना पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में तुकोजीराव की विजय हुई और उसकी धाक उन लोगों पर खूब जम गई। राघोबा ने भी इसी प्रकार एक बार धन की माँग के बहाने उस पर आक्रमण किया। वह स्वयं, अपने साथ पाँच सौ स्त्रियाँ लेकर, वीर वेष धारण करके रण-क्षेत्र में जा डटी। राघोबा उनका यह साहस देखकर मन ही मन बड़ा लज्जित हुआ और लौट गया। इस प्रकार उसने बुद्धि-बल और साहस से शत्रुओं का भी अच्छी तरह दमन किया।

अहल्याबाई का हृदय अत्यन्त कोमल था; परन्तु अन्यायी को उचित दंड देने में वह कभी संकोच नहीं करती थी। वह कठोरता और कोमलता दोनों से काम लेती थी। अपने धर्म में उसका अटल विश्वास था।

स्वभाव

तीर्थस्थानों में यात्रियों की सुविधा के लिए उसने देव-मन्दिर तथा धर्मशालाएँ बनवा दी थीं। उसका अधिक धन इन्हीं सब कामों में व्यय होता था। सन् १७९५ ई० में, उत्तर भारत में दारुण दुर्भिक्ष में उसने असंख्य लोगों की, अन्न और वस्त्र से, बड़ी सहायता की थी। जगन्नाथजी जानेवाली सड़क के किनारे और केदारनाथ में धर्मशाला उसी के

बनवाई थी। काशी में उसने अपने नाम से गंगा नदी के किनारे एक घाट बनवाया था। इन पुण्य कार्यों के अतिरिक्त, उसने कई क़िले भी बनवाये थे। उसने स्थान-स्थान पर कुएँ खुदवाये, सराएँ बनवायीं और सड़क के किनारे किनारे वृक्ष लगवाये थे। इन समस्त पुण्य-कार्यों से उसका नाम अमर हो गया; परन्तु मानसिक दुःख से उसे छुटकारा न मिला।

अहल्याबाई के अन्तिम दिन बड़ी बुरी तरह से बीते। यह पहले लिखा जा चुका है कि नत्थोबा उसका नाती था। वह बड़ा होनहार बालक था। बीस वर्ष की आयु भोगने पर एक दिन शीत-ज्वर ने उसका प्राणान्त कर दिया। उसकी मृत्यु से यशवन्तराव के हृदय पर इतनी चोट लगी कि वह भी एक वर्ष बाद, सन् १७९१ ई० में, काल की गोद में सो गये। मुक्ताबाई पति-वियोग सहन न कर सकी। वह सती होने के लिए तैयार हुई। अहल्याबाई ने उसे बहुत समझाया, अपने वैधव्य जीवन की कहानी सुनाई, अपने सूनेपन की याद दिलाई; परन्तु मुक्ताबाई के हृदय पर उसकी बातों का कोई प्रभाव न पड़ा। अन्तमें, वह सती हो गयी। इस प्रकार एक-एक करके सभी आत्मीय जन उससे विदा हो गये। अब वह संसार में अकेली रह गयी। जीवन का यह सूनापन उसे अखर रहा था। वह धार्मिक कार्यों में व्यस्त रहकर अपना मन बहलाने की बहुत चेष्टा करती थी; परन्तु उसके हृदय के घाव उसे चैन नहीं लेने देते थे। अन्त में ६० वर्ष की आयु भोगने के पश्चात्, वह पुण्यशीला आत्मा इस दुखमय संसार को त्यागकर स्वर्गलोक में जा बसी।

अंतिम दिन

कितना दुखद अन्त था उस विदुषी का! कितना करुणाजनक जीवन था उस भद्रनारी का!! आज इतने दिनों के पश्चात् भी जब उसकी याद आती है; हृदय भर आता है, और आँखों से आँसुओं की उष्ण धारा प्रवाहित होने लगती है।

महारानी लक्ष्मीबाई

उसका नाम था मनू। वह बड़ी चंचल थी। बड़ी हठीली थी। बात बात पर हठ करती थी। उसकी माता का देहान्त हो चुका था। पिता कुछ कहते न थे, दरबार में लाकर उसे बिठा देते थे। वह खेलती थी बालक नाना साहब के साथ और हठ करती थी उन वस्तुओं के लिए जिन्हें वह उनके पास देखती थी। वह कभी घोड़े पर चढ़ती थी; कभी हाथी पर बैठती थी; कभी शिकार खेलने जाती थी; कभी तलवार चलाना सीखती थी। वह निर्भीक थी; साहसी थी; उसके शरीर में जितनी शक्ति थी; उतनाही उसके शरीर में सौंदर्य था। बाजीराव उसे छबीली कहते थे। दरबारी कहते थे—वह वीराङ्गना होगी; ज्योतिषी कहते थे—वह रानी होगी। सबकी बातें सत्य हुईं। वह रानी बनी; प्रजा हितैषिणी बनी; वीराङ्गना बनी। वह लड़ी; जी खोलकर लड़ी।

वह समय था विप्लव का। प्रजा उन्मत्त हो रही थी राष्ट्रीय भावों से। वह तैयार थी अपने धर्म और देश की रक्षा में प्राणोत्सर्ग करने के लिए। उस समय मुग़ल-साम्राज्य नष्टप्राय हो चुका था। मरहठे अवनति के गर्त में गिर चुके थे। बड़े-बड़े शूरवीरों की तलवारों में मोर्चा लग गया था। छोटे-छोटे राज्यों के शासक-वर्ग, पारस्परिक कलह और वैमनस्य से, शक्तिहीन हो चुके थे। कोई किसी का साथी न था। सारा देश दासता की बेड़ियों में जकड़ा जा रहा था। भारतमाता के स्वतंत्र लाल परतंत्र बनाये जारहे थे। सबके मुँह बन्द थे। सबके हाथ ढीले पड़ गये थे। तोप के आगे तलवारें कुंठित होगयी थीं। सहसा आग भड़क उठी। स्वतंत्रता ने एक अंगड़ाई ली और देश का कोना-कोना सजग हो गया। बूढ़े भारत में फिर जवानी आ गयी। पुरानी तलवारें निकल आयीं। मुर्दों में जान आ गयी। सोते हुए लोगों की आँखें खुल गयीं। जिनका राज्य छिन गया था; जिनकी सम्पत्ति लूट ली गयी थी; जिनका

अपमान हुआ था; सब मिल गये इस महायज्ञ में। मनू ने इसी यज्ञ में अपनी आहुति दी। उसने इसी यज्ञ मे प्राणोत्सर्ग किया। वह देवी थी; दुर्गा थी; रण-चण्डी थी।

उसके पिता का नाम मोरोपन्त ताम्बे था। वह महाराष्ट्र में सतारा के समीप, कृष्णा नदी के किनारे, वाई ग्राम में रहते थे। साधारण परिवार था; फिर भी बड़े-बड़ों तक पहुँच थी। चिमाजी आपा साहब उन्हें बहुत मानते थे। वह काशी में रहते थे। इसलिए उन्होंने मोरोपन्त को ५०) मासिक वेतन पर अपने पास काशी में बुला लिया। उनकी धर्मपत्नी, भागीरथीबाई, भी उन्हीं के साथ काशी चली गयीं। वहाँ १६ नवम्बर सन् १८३५ ई० को मनू का जन्म हुआ। ब्राह्मण-परिवार में जन्म लेकर मनू ने एक अभाव की पूर्ति की। मोरोपन्त का दाम्पत्य जीवन हरा-भरा हो गया; परन्तु बहुत दिनों तक यह अवस्था न रहने पाई। तीन-चार वर्ष पश्चात्, आपा साहब परलोक-वासी हो गये। मोरोपन्त को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ। अब उनके लिए काशी रहना कठिन हो गया। उन्होंने बाजीराव को लिखा।

जन्म-स्थान और परिवार

बाजीराव, चिमाजी के भाई थे। उन्हें भारत-सरकार से आठ लाख रुपया पेन्शन मिलती थी। भाई की मृत्यु का समाचार सुनकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। उन्होंने मोरोपन्त ताम्बे को अपने पास बुला लिया; परन्तु दुर्दैव ने यहाँ भी उनका पीछा न छोड़ा। आने के थोड़े ही दिनों बाद उनकी पत्नी, भागीरथीबाई, का भी स्वर्गवास हो गया। चार वर्ष की अवस्था में बालिका मनूबाई मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गयी।

बाल्यावस्था और शिक्षा

पत्नी की मृत्यु के पश्चात् गृह का समस्त भार मोरोपन्त को उठाना पड़ा। उन्होंने मनूबाई का पालन-पोषण किया। मनूबाई अपने पिता के साथ-साथ पुरुष-मण्डली में रहने लगी। वह बड़ी रूपवती थी। इसलिए सब लोग उसे खूब खेलाते थे और 'छबीली' कहकर पुकारते थे। बाजीराव के दत्तक पुत्र, नाना साहब और राव साहब भी उस समय बच्चे ही थे। अतः

मनूबाई उन्हीं के साथ खेला करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि थोड़े ही दिनों में उसने घोड़े पर चढ़ना, तीर चलाना, तलवार भाँजना आदि सीख लिया और थोड़ा-बहुत भाषा का ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। इस प्रकार ब्राह्मण-बालिका के हृदय में क्षत्रित्व का बीज बो दिया गया।

उस समय बिठूर में बड़े-बड़े ज्योतिषी बाजीराव से मिलने आया करते थे। एक दिन तात्या दीक्षित नाम के एक ज्योतिषी झाँसी से आये। मोरोपन्त ने उन्हें मनूबाई का जन्म-पत्र दिखाया और उसके

विवाह

विवाह की चर्चा की। ज्योतिषी ने उसका जन्म-पत्र देख कर कहा कि इसे राजयोग लिखा है। इसका विवाह किसी राजा से होगा। ज्योतिषी की यह भविष्य वाणी सत्य हुई। सन् १८४२ ई० में, उसका विवाह, झाँसी के महाराज, गंगाधरराव, के साथ हो गया। अब उसका नाम लक्ष्मीबाई रखा गया। मोरोपन्त को भी ३००) मासिक वेतन पर झाँसी दरबार में सरदारी की जगह मिल गयी। उन्होंने चिमनबाई के साथ अपना दूसरा विवाह कर लिया।

सन् १८५१ ई० में, लक्ष्मीबाई के गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ; परन्तु वह केवल तीन महीने तक ही जीवित रहकर चल बसा। पुत्र-वियोग से महाराज गंगाधरराव के हृदय को बड़ी चोट लगी और

दाम्पत्य जीवन

वह प्रायः बीमार रहने लगे। सन् १८५३ ई० में, उनका रोग इतना बढ़ गया कि उन्होंने विवश होकर आनन्दराव नाम के एक पंचवर्षीय बालक को गोद ले लिया। यही बालक दामोदरराव गंगाधरराव के नाम से प्रख्यात हुआ।

उस समय झाँसी का राज्य अँगरेज़ों की छत्र-छाया में था। अतः महाराज गंगाधरराव ने तत्कालीन बड़े लाट साहब को गोद लेने की सूचना भिजवा दी। उस सूचना में यह भी लिख दिया गया कि झाँसी के वर्तमान महाराज, गंगाधरराव, की मृत्यु के पश्चात् दामोदरराव का राज्याभिषेक होगा, और उनकी अल्प वयस्कता तक शासन का समस्त कार्य लक्ष्मीबाई के हाथ में रहेगा। इस प्रकार राज्य का कुल प्रबन्ध करके वह, २१ नवम्बर

सन् १८५२ ई० को, इस असार संसार से विदा हो गये। अठारह वर्षीय युवती लक्ष्मीबाई, विधवा हो गयी।

गंगाधरराव की असामयिक मृत्यु का जब दुखद समाचार सहकारी राजनीतिक एजेण्ट, मेजर एलिस, को ज्ञात हुआ तब उन्होंने आकर झाँसी के दुर्ग में रखे हुए राजकोष में ताला लगा दिया, और उसकी रक्षा के लिए एक सशस्त्र सेना का पहरा बैठा दिया।

झाँसी-राज्य का पतन

राजनीतिक एजेण्ट, मालकम, ने कहा कि सरकार की स्वीकृति के बिना दामोदरराव का गोद लिया जाना उचित नहीं है, इसलिए झाँसी अँगरेज़ी राज्य में मिला लिया जाय, और रानी को ५०००) मासिक पेन्शन दे दी जाय। उस समय लार्ड डलहौज़ी गवर्नर जनरल था। उसने २ अगस्त सन् १८५४ ई० को मालकम साहब के आदेशानुसार झाँसी को अँगरेज़ी-राज्य में सम्मिलित कर लिया। लक्ष्मीबाई ने अँगरेज़ों की इस नीति का घोर विरोध किया और पेन्शन लेना अस्वीकार कर दिया; परन्तु लक्ष्मीबाई के विरोध का तत्कालीन मदान्ध अँगरेज़ी शासकों पर कुछ भी प्रभाव न पड़ा। लक्ष्मीबाई ने हृदय पर वज्र रखकर यह अपमान चुपचाप सहन कर लिया, और अपना समय पूजा-पाठ में व्यतीत करने लगी।

इस घटना के तीन वर्ष पश्चात्, सन् १८५७ ई० में, सरकार के भारतीय सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया। झाँसी में उस समय जो सरकारी भारतीय सेना थी, उसने अँगरेज़ों के बँगलों में आग लगा दी, और

१८५७ की अराजकता का आरम्भ

उनके बाल-बच्चों को मौत के घाट उतार दिया। इस दुर्घटना से अँगरेज़ काँप उठे। उन्होंने रानी से सहायता माँगी; परन्तु विद्रोहियों ने मार्ग में ही दूतों का वध कर दिया। उन्होंने लक्ष्मीबाई का राज-भवन तक घेर लिया और तीन लाख रुपए की माँग पेश की। लक्ष्मीबाई उस समय बड़े कष्ट में थी। अतः उसने धन देने में अपनी असमर्थता प्रकट की; परन्तु उन ख़ूनी विद्रोहियों ने उसकी एक न सुनी। अन्त में उसने उन्हें अपने आभूषण देकर अपनी जान बचाई।

जब विद्रोहियों के प्रलयकारी उपद्रवों के कारण एक भी अँगरेज़ न रह

झाँसी पर आक्रमण

गया; तब लक्ष्मीबाई ने सरकारी अधिकारियों की एक सभा की। इस सभा के निश्चयानुसार सागर के कमिश्नर को, झाँसी के विद्रोह तथा शासन-प्रबन्ध के विषय में सूचना दे दी गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि अँगरेज़-अधिकारियों के आने तक झाँसी का शासन-प्रबन्ध लक्ष्मीबाई को सौंपा गया। दुर्भाग्य से, उस समय, लक्ष्मीबाई के पास राजनीति-निपुण कर्मचारी नहीं थे। इसलिए उसकी इच्छानुसार कोई कार्य उचित रूप से संचालित न हो सका। फलतः झाँसी पर आक्रमण होने लगे। सदाशिवराव नारायण नाम के एक व्यक्ति ने अपने को गद्दी का उत्तराधिकारी घोषित करके करेरा दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। लक्ष्मीबाई ने भी इधर-उधर से अपनी सेना इकट्ठी की, और झाँसी-राज्य की रक्षा के लिए करेरा पर चढ़ाई कर दी। सदाशिवराव भाग गया, और वह पकड़कर क़िले में बन्द कर दिया गया। इस घटना के थोड़े दिन बाद ही ओरछा-राज्य के दीवान, नत्थे खाँ, ने चढ़ाई कर दी। अब तो, लक्ष्मीबाई बड़े संकट में पड़ गयी; फिर भी उसने साहस से काम लिया। पुरानी तोपें निकाली गयीं और दुर्ग के बुर्जों पर लगवा दी गयीं। बड़े-बड़े रणबाँकुरे जमा हो गये। लक्ष्मीबाई भी पुरुषों के वेष में निकली। यह देखकर वह भाग खड़ा हुआ और जाकर अँगरेज़ों से मिल गया। वह बड़ा चतुर और राजनीतिज्ञ था। अँगरेज़ों से मिलकर उसने लक्ष्मीबाई के विरुद्ध षड्यन्त्र रचना आरम्भ किया। कान के कच्चे अँगरेज़ लक्ष्मीबाई को बाग़ी समझने लगे और थोड़े ही दिनों में सर ह्यू रोज़ के सेनापतित्व में एक अँगरेज़ी सेना ने झाँसी पर आक्रमण कर दिया।

अँगरेज़ों से युद्ध

महारानी लक्ष्मीबाई अँगरेज़ों के विरुद्ध नहीं थी। लगभग दस महीने तक, उसने उनके नाम से झाँसी पर शासन किया था। उसने अँगरेज़ों के पास कई बार सहायता के लिए पत्र भी लिखा था और विद्रोहियों से युद्ध भी ठाना था; परन्तु स्वार्थी अँगरेज़ों ने इन सब बातों पर पानी फेर दिया। इससे लक्ष्मीबाई के हृदय पर बड़ी चोट लगी। वह भी युद्ध करने के लिए तैयार हो गयी। बहुत-

से मरहठे, जो ऐसे अवसरों की ताक में घूम रहे थे, उसके झंडे के नीचे आ गये। २३ मार्च को दोनों ओर से गोले दग़ने लगे; परन्तु उस दिन अँगरेज़ों को विशेष सफलता नहीं मिली। २४ मार्च को अंगरेज़ी-सेना ने चार नये मोर्चे और बाँधे, और क़िले की दाहिनी ओर से आक्रमण करने की तैयारी की। उसकी भयंकर मार से बहुत से गोलन्दाज़ धराशायी हो गये; तोपें बन्द हो गयीं और दीवारों में छेद हो गये; फिर भी अँगरेज़ों को मनचाही सफलता नहीं मिली।

राष्ट्र के पतन में स्वार्थियों और विश्वासघातियों का हाथ रहता है। झाँसी का पतन भी इन्हीं के द्वारा हुआ। एक विश्वासघाती ने अँगरेज़ों को पश्चिम की ओर से आक्रमण करने की सलाह दी। इस भेद का पता लगते ही अँगरेज़ों ने पश्चिम की ओर से आक्रमण कर दिया। लक्ष्मीबाई के बहुत से सैनिक मारे गये। यह दृश्य देखकर उसका कोमल हृदय पिघल गया। उसने दृढ़ता-पूर्वक उन प्रलयकारी गोलों से प्रजा की रक्षा की, और दीन तथा अनाथों को अन्न-दान देकर सन्तुष्ट किया। इसी प्रकार कई दिनों तक युद्ध होता रहा। महारानी लक्ष्मीबाई बराबर अपने धैर्य, दृढ़ निश्चय और अकथनीय पराक्रम का परिचय देती रही। तात्याटोपे तथा अन्य बाग़ी सरदार भी उसकी सहायता के लिए आ गये, और भीषण मारकाट होती रही; परन्तु अँगरेज़ों की सुव्यवस्थित सेना के आगे विद्रोहियों के पैर अधिक समय तक न टिक सके। गोरी फ़ौज क़िले का दरवाजा तोड़कर भीतर घुस आयी, और बुरी तरह से निरीह प्रजा का संहार करने लगी। यह दशा देखकर महारानी का अन्तःकरण दुःख से भर गया। उसने गुप्त द्वार से अपने सब नौकरों को क़िले से बाहर निकाल दिया और स्वयं घोड़े पर सवार होकर चल दी। उसके पीछे उसके पिता, मोरोपन्त, भी एक हाथी पर धन लादकर भागे; परन्तु दुर्भाग्य ने उनका पीछा न छोड़ा। वह मार्ग ही में पकड़ लिये गये, और मौत के घाट उतार दिये गये। इस प्रकार झाँसी का क़िला अँगरेज़ों के हाथ आ गया। सारे नगर में ख़ूब लूट-मार हुई। झाँसी तबाह हो गया।

महारानी लक्ष्मीबाई झाँसी के क़िले से निकलकर पाँचवीं अप्रैल को

भाँडेर पहुँची। उसके पहुँचते ही अँगरेज़ी सेना भी उसे पकड़ने के लिए आधमकी। इस समय उसके पास न तो कोई सेना थी और न कोई साधन। केवल एक तलवार का भरोसा था। उसे ही हाथ में लेकर वह समर-क्षेत्र में जाने के लिए तैयार हो गयी। ज्योंही, बौकर साहब अपना घोड़ा दौड़ाते हुए उसे पकड़ने के लिए लपके, त्योंही उसने अपनी तलवार का एक हाथ ऐसी चपलता से चलाया कि साहब महोदय चारों खाने चित होकर गिर पड़े और पृथ्वी की गोद में छटपटाने लगे। वह निकल गयी और कालपी पहुँची। वहाँ राव-साहब पेशवा ने उसके रहने का प्रबन्ध कर दिया। दूसरे दिन महारानी ने पेशवा से भेंट करते समय अपनी तलवार उनके सामने रख दी और अश्रु-पूरित नेत्रों से कहा, "आपके पूर्वजों ने यह तलवार हमें दी थी। आज तक इसका उचित आदर हुआ, परन्तु अब मैं आपकी सहायता और कृपा न होने के कारण इसकी मर्यादा की रक्षा करने में असमर्थ हूँ। अतएव आप इसे वापस ले लीजिए।" महारानी की इस युक्तिसंगत चतुरता ने पेशवा को सचेत कर दिया। वह भी युद्ध करने के लिए तैयार हो गये। बात की बात में, आस-पास से सेनाएँ आकर कालपी में एकत्र होने लगीं। जब यह समाचार अँग-रेज़ों को ज्ञात हुआ, तब उन्होंने भी युद्ध की दुंदुभी बजा दी। घोर युद्ध ठन गया, और मार-काट होने लगी। कालान्तर में कालपी भी अँगरेज़ों के हाथ आ गया। अब रावसाहब पेशवा और महारानी लक्ष्मीबाई दोनों यहाँ से भाग-कर ग्वालियर से ४६ मील की दूरी पर गोपालपुर पहुँचे।

संकट काल

गोपालपुरी में तात्याटोपे तथा बाँदा के नवाब भी उन लोगों से आ मिले। इन लोगों के लिए यह बड़े संकट का समय था। ऐसे अवसर पर किसी युक्ति से काम लेने की आवश्यकता थी। महारानी लक्ष्मीबाई ने इस समस्या पर अच्छी तरह विचार किया, और किसी क़िले पर अधिकार करने का प्रस्ताव उप-स्थित किया। यह युक्ति सब को पसन्द आ गयी। ग्वालियर का क़िला निकट था। अतएव सबने उसकी ओर प्रस्थान किया। उस समय जयाजीराव

ग्वालियर के दुर्ग पर अधिकार

सिंधिया वहाँ के महाराज थे। उन्होंने विद्रोहियों की सहायता करने से साफ़ इनकार कर दिया और युद्ध की घोषणा कर दी। एक ओर रणांगण में तरुण राजकुमार अपनी सेना लेकर डट गया; दूसरी ओर से दुर्दैव-पंक में फँसी हुई एक तरुण युवती ने अपने अदम्य साहस का परिचय देना आरम्भ किया। दोनों में घोर युद्ध हुआ। थोड़ी देर में जयाजीराव के पैर उखड़ गये। वह ग्वालियर से आगरा भाग गये। क़िला बाग़ियों के हाथ आ गया।

ऐसे अवसर पर बाग़ियों को सजग रहना चाहिए था; परन्तु ऐसा न करके वह भोग-विलास में अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इसका फल यह हुआ कि क़िला लेने का उद्देश्य निष्फल हो गया। अँगरेज़ सतर्क थे। वह विद्रोहियों की प्रत्येक नीति और प्रत्येक चाल पर अच्छी तरह विचार करते थे। इसलिए जब सर ह्यू-रोज़ को यह समाचार मिला, तब उन्होंने लार्ड केनिंग से परामर्श करने के पश्चात् तुरन्त ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। अब पेशवा की आँखें खुलीं और तात्याटोपे भी सजग हो गया। सब ने मिलकर अँगरेज़ों का बड़ी वीरता-पूर्वक सामना किया।

पुनःपतन

लक्ष्मीबाई दूरदर्शी थी। वह समझ गयी थी जिस क़िले को बाग़ियों ने अपने अधिकार में कर लिया है, इसलिए उस पर उनका अधिकार अधिक समय तक नहीं रहेगा। एक-न-एक दिन बाग़ियों की विलास-प्रियता अवश्य रंग लायेगी और उसी दिन उसे अपने जीवन की अन्तिम आहुति देनी पड़ेगी। ऐसा ही हुआ। अँगरेज़ों के ग्वालियर-दुर्ग पर आक्रमण करते ही वह नागिन की तरह उन्मत्त हो गयी। वह युद्ध-स्थल में स्वयं जा डटी। वह वीराङ्गना थी। पीछे हटना तो जानती ही न थी। उसके लिए तो यह अन्तिम युद्ध था। इसलिए उसने इस युद्ध में अपने अद्वितीय शौर्य का परिचय दिया। वह कई दिनों तक बराबर लड़ती रही। तलवारों की चोटों से उसका शरीर छिद्-सा गया था। फिर भी उन्मत्त रण-चंडी की भाँति वह लड़ती ही जा रही थी। यह दशा देखकर पीछे से एक सिपाही ने उसके मस्तक पर तलवार का एक ऐसा वार किया कि उसके

अन्तिम झाँकी

कोमल शरीर के दो भाग हो गये और दाहिनी आँख निकल पड़ी। वह अशक्त हो गयी। वैरियों को अवसर मिल गया और एक सवार ने उसकी छाती में किर्च भोंक दी। यह उसके लिए असहनीय हो गया। ऐसी दशा में जब उसने देखा कि अब मृत्यु का समय निकट आ गया है और उससे बचना कठिन है, तब उसने अपने परम विश्वासपात्र सरदार, रामचन्द्रराव देशमुख, को सहायता के लिए संकेत किया। वह उसे रण-स्थल से एक पर्ण-कुटी में ले गये, और उसे गंगाजल पान कराया। उस समय उसके मुख पर अलौकिक वीर-श्री खेल रही थी। उसका दत्तक पुत्र, दामोदरराव, उसके पास खड़ा था। उसने उसको आँख भरकर देखा, और ज्येष्ठ शुक्ल ७ सं० १९१४ को अपना शरीर छोड़ दिया। रामचन्द्रराव देशमुख ने तुरन्त घास-फूस की एक चिता तैयार की और उस पर उसका पवित्र शव रखकर दाह संस्कार कर दिया। इस प्रकार एक देश-भक्त नारी ने स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपने प्राणों की आहुति दे दी।

लक्ष्मीबाई सच्ची वीराङ्गना थी। बचपन से ही उसने युद्ध करना सीखा था। उसमें अद्भुत साहस था; अद्भुत पराक्रम था; अद्भुत शक्ति थी। उसका ब्राह्मणत्व उसकी कोमलता थी, उसका क्षत्रित्व उसकी कठोरता थी। अँगरेज़ों ने उसका अपमान किया था; उसके विश्वास पर कलंक लगाया था। वह इस कलंक को सहन न कर सकी। उसके क्षत्रित्व में उफान आ गया। वह लड़ गयी अपने सम्मान की रक्षा के लिए, अपने देश को पराधीनता की बेड़ियों से स्वतंत्र करने के लिए। वह भारत-माता की सच्ची पुत्री थी। वीरों से लड़कर उस वीराङ्गना ने अपनी तलवार का जौहर दिखाया, और अन्त में वीर-गति को प्राप्ति हुई। आज वह वीर नारी इस देश में नहीं है, परन्तु उसकी पुनीत आत्मा यहाँ के कण-कण में विद्यमान है, और परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़े हुए भारतियों को आज़ादी का सच्चा पाठ पढ़ाती है।

महारानी दुर्गावती

भारतीय इतिहास में महोबा के चन्देल-राजपूतों का विशिष्ट स्थान है। उनकी वीर-गाथाएँ आज भी शुष्क नसों को अनुप्राणित करती हैं, और देश तथा जाति की आन पर मरमिटने का अमर सन्देश देती हैं। बारहवीं शताब्दी में इसी वंश के लोग महोबा तथा कालिंजर पर शासन करते थे। खजुराहो उनकी राजधानी थी। वहीं से शासन-प्रबन्ध का समस्त कार्य संचालित होता था। कालिंजर के दुर्ग में सेना रहा करती थी। कहा जाता है कि इन लोगों के अधिकार में आठ दुर्ग थे। इनमें से चार विन्ध्याचल पर्वत पर और शेष मैदान में थे। मैदान के दुर्गों में सेना रहा करती थी।

चन्देल-राजपूतों के पास असंख्य धन और अपार सम्पत्ति थी। गोंड, कोल और भील सभी उनकी संरक्षता में थे। चारों ओर उनकी धाक जमी हुई थी। सन् ११८२ ई० के लगभग दिल्ली के पृथ्वीराज चौहान और महोबा के राजा परमल में घोर संग्राम हुआ। आल्हा और ऊदल ने इस युद्ध में बड़ी वीरता दिखायी; परंतु अंत में परास्त होने पर चौहानों का महोबा पर अधिकार हो गया। इसके बाद परमल के पुत्र समरजीत ने क़न्नौज के राजा जयचंद की सहायता से पृथ्वीराज के सेनापति को महोबा से बाहर निकाल दिया और स्वयं कालिंजर के दुर्ग में रहने लगे। अप्रैल सन् १२०३ ई० में ग़ुलाम-वंश के बादशाह कुतुबद्दीन ने चंदेलों की रही-सही शक्ति का भी अंत कर दिया। तब से वह कालिंजर के दुर्ग में रहने लगे। यहाँ के अन्तिम राजा कीर्तिराय थे। उनके एक पुत्री थी। उसका नाम था दुर्गावती।

वंश परिचय

दुर्गावती का जन्म सन् १५३० ई० के लगभग हुआ था। वह बड़ी रूपवती और सुशीला थी। अपने शिशु-जीवन में उसने अपने वंशजों

की वीर-गाथाएँ सुनी थीं, और उनसे अधिक प्रभावित हुई थी। उसके कुसुम-से कोमल शरीर में वीर-रस भरा हुआ था। किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते उसने घोड़े पर सवारी करना, तीर चलाना तथा तलवार भाँजना अच्छी तरह सीख लिया था। वह शिकार खेल सकती थी। उसने स्वयं कई शेर भी मारे थे। शासन का कार्य संचालन करने की भी उसमें पर्याप्त क्षमता थी। उसके मुख-मण्डल पर वीरों का-सा तेज था।

बाल्यकाल और शिक्षा

कीर्तिराय अपनी ऐसी तेजस्वी पुत्री को किसी वीर राजपूत के हाथों में देना चाहते थे। उस समय गोंडवाना में संग्रामशाह का पुत्र, दलपतिशाह, राज्य करता था। वह बड़ा वीर, पराक्रमी और नीति-कुशल था। उसने दुर्गावती के रूप और वीरता की चर्चा सुनी थी और वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता था। गोंडराजा चंदेलों से उतरे हुए समझे जाते थे; इसलिए कीर्तिराय ने दलपतिशाह को अपनी पुत्री देना स्वीकार नहीं किया। परन्तु दलपतिशाह दुर्गावती को अपनी रानी बनाने पर तुला हुआ था। कीर्तिराय की अस्वीकृत और जाति-अपमान से लज्जित होकर उसने कालिंजर पर आक्रमण कर दिया। इधर कीर्तिराय ने एक राजपूत सरदार को भी विवाह का निमंत्रण देकर बुला लिया। वह भी अपने साथ सेना लाया। अब क्या था! तलवारें चलने लगीं।

विवाह में युद्ध

दुर्गावती दलपति ही को चाहती थी। वह उन्हीं को वर चुकी थी। वीराङ्गनाएँ वीरों की उपासना करती हैं। उनकी दृष्टि में वही कुलीन राजपूत होता है जो समर में लाखों का सर काट कर अपनी तलवार की प्यास बुझा सकता है। दलपति वीर था। वह दुर्गावती ही के उपयुक्त था। इसलिए दुर्गावती का विवाह उसी के साथ हुआ और युद्ध बन्द हो गया। परन्तु इस घटना के पश्चात् ही, सन् १५४५ ई० में, दिल्ली के बादशाह, शेरशाह सूरी, ने कालिंजर पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में कीर्तिराय की मृत्यु हो गयी। चँदेलों के दुर्ग पर यवन-पताका फहराने लगी।

दुर्गावती अपनी कमल-सी आँखों में वियोग के अश्रु, हृदय में आत्मसमर्पण की स्वर्गीय उल्लास और सर पर तरुणावस्था की आशाओं का मंगल-कलश लेकर अपने प्रियतम के घर आयी। जिसके लिए कालिंजर में इतना रक्तपात हुआ था, उसके दर्शन हुए। माता-पिता का बिछोह भूल गया। अतीत की याद जाती रही। दाम्पत्य जीवन के मधुर स्वप्नों ने सब पर जादू कर दिया। वह सुखपूर्वक राज-भवन में जीवन व्यतीत करने लगी। एक वर्ष पश्चात्, उसके गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसका नाम वीरनारायण रखा गया।

दाम्पत्य जीवन का क्षणिक सुख

वीरनारायण के जन्म से दलपतिशाह की प्रसन्नता का कोई ठिकाना नहीं था। दुर्गावती फूली नहीं समाती थी; परन्तु दुर्दैव ऊपर से हँस रहे थे। उनकी हँसी रहस्य से परिपूर्ण थी। अकस्मात, सन् १५५१ ई० को एक दिन दलपतिशाह बीमार हुए। बड़े-बड़े वैद्यों ने उनके रोग की चिकित्सा की; परन्तु सब व्यर्थ। वह रोग इतना घातक हो गया कि किसी की दवा न लग सकी। अन्त में थोड़े दिनों तक इसी अवस्था में रहकर वह चल बसे। दुर्गावती का सौभाग्य-दीप बुझ गया। इस समय वीरनारायण की अवस्था तीन वर्ष की थी। उसीने अपने वीर पिता का अन्तिम संस्कार किया। दुर्गावती सती होना चाहती थी; परन्तु वात्सल्य-प्रेम उसे ऐसा करने से रोक रहा था। अतएव उसने हृदय पर वज्र रखकर वैधव्य जीवन ही व्यतीत करना उत्तम समझा। वीरनारायण राजसिंहासन पर बैठा और वह उसकी संरक्षिका बन गयी।

पति-वियोग

दुर्गावती वीर-माता थी। उसने स्वयं अपने पुत्र, वीरनारायण, का पालन-पोषण किया, और उसे युद्ध-कला की सारी बातें सिखायीं। वह बड़ी कुशाग्र-बुद्धिवाली, शासनकार्य-कुशला और साहसी थी। उसका मन्त्री, अधारसिंह, भी बड़ा राजनीतिज्ञ था। वह जाति का कायस्थ और रानी का अत्यन्त विश्वास-पात्र था। उसने रानी की सहायता से राज्य का विस्तार किया, और प्रजा की भलाई के लिए शासन में सुविधाएँ उपस्थित की। इन दोनों कुशल राजनी-

अकबर की लोलुप दृष्टि

लशों के समय में गोंडवाना चमक उठा, और गढ़ा-मण्डला का नाम चारों ओर फैल गया। उसकी सम्पत्ति और धन-धान्य से सब की आँखें चकाचौंध हो गयीं। उस समय गोंडवाना का राज्य विन्ध्याचल और सतपुरा पर्वत की सीमा को भी पार कर गया था। उत्तरी भारत में अकबर की धाक थी। मध्य भारत में दुर्गावती का रंग जमा हुआ था।

दुर्गावती स्त्री थी। अकबर पुरुष था। यही सोचकर अकबर ने रानी दुर्गावती के स्वतन्त्र राज्य का अन्त कर देना चाहा। दुर्गावती अकबर की चालों से भलीभाँति परिचित थी। वह यह जानती थी कि गढ़ा-मण्डला पर अकबर की आँखें लगी हुई हैं। इसलिए वह सदैव चौकन्नी रहती थी। वह वीर-पुत्री थी, वीर-वधू थी, वीर-पत्नी थी, वीर-माता थी। युद्ध से उसे लेश मात्र भी भय न था। वह स्वयं मुग़लों से लोहा लेना चाहती थी। इसलिए उसने युद्ध की पूरी तैयारी कर ली थी। अकबर भी अपनी ताक में था। उसने आक्रमण करने का बहाना तलाश करना शुरू किया।

उस समय मन्त्री, अधारसिंह, का बड़ा नाम था। अकबर उसे अपने मंत्रिमण्डल में सम्मिलित करना चाहता था। उसका विचार था कि अधारसिंह के आने से उसके राज्य की शासन-व्यवस्था और भी ठीक हो जायगी। इसलिए उसने किसी बहाने से अधारसिंह की माँग पेश की। दुर्गावती अकबर की यह चाल समझ गयी। वह यह जान गयी कि अकबर अधारसिंह के बहाने युद्ध की घोषणा करना चाहता है। यह जानते हुए भी उसने अधारसिंह को भेज दिया। अधारसिंह के लिए इसका फल अच्छा न हुआ। वह नज़रबन्द कर लिया गया। इसी समय दुर्गावती का एक क्रान्तिकारी सरदार भी अकबर से आ मिला। उसने अकबर को दुर्गावती का कुल रहस्य बता दिया।

विश्वासघात

अकबर को जब दुर्गावती के कुल रहस्यों का पूरा पता लग गया; तब वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसे विश्वास हो गया कि एक-न-एकदिन गढ़ा-मण्डला पर मुग़लों की विजय-पताका अवश्य फहरायेगी और अधारसिंह उसका मंत्री बनेगा; परन्तु सरलता से यह कार्य सम्पन्न होनेवाला नहीं था। अधार

सिंह दुर्गावती का विश्वासपात्र था। वह किसी के प्रलोभन में आनेवाला नहीं था। अकबर ने उसे मिलाने की बड़ी चेष्टाएँ कीं; परन्तु सब व्यर्थ। बन्दी-गृह की यातनाएँ उसे अपने उद्देश्य से हटा न सकीं। वह निर्भीक बना रहा और धीरे-धीरे अकबर की समस्त चालों का पता लगाता रहा। इस प्रकार जब उसे अकबर की भावी कुचेष्टाओं के सम्बन्ध में पूरी जानकारी हो गयी तब वह एक दिन चुपचाप बन्दी-गृह से भाग निकला। उसके पलायन से अकबर को गोंडवाना पर आक्रमण करने का बहाना मिल गया। कड़ा का शासक, आसफ़ ख़ाँ, इस कार्य के लिए नियुक्त किया गया। उसने १२००० पैदल, ६००० सवार और सुव्यवस्थित तोपख़ाना लेकर गोंडवाने की राजधानी गढ़ा-मण्डला पर आक्रमण कर दिया।

गोंडवाना पर आक्रमण

आसफ़ ख़ाँ की सेना संख्या में अधिक थी। उसके पास तोपें भी थीं। दुर्गावती की सेना अपेक्षाकृत कम थी; परन्तु इससे उसका साहस कम नहीं हुआ। वह क्षत्राणी थी। अपने शिशु-जीवन से ही उसने युद्धों के दृश्य देखे थे। वह राज-भवन के भीतर स्त्री थी, परन्तु समराङ्गण में वह वीरों के भी कान काटती थी। इसलिए मुग़लों की सेना का हाल सुनकर वह स्वयं वीर-वेष धारण करके हाथ में नंगी तलवार लेकर निकल पड़ी। उस समय वह श्वेत घोड़े पर सवार थी। दैवी ज्योति से उसका मुख-मण्डल आलोकित हो रहा था। उसके पीछे रण-मत्त राजपूत तथा उसकी प्राण-प्रिय प्रजा थी।

आसफ़ ख़ाँ ने जब दुर्गावती को इस रूप में देखा, तब उसके होश-हवाश उड़ गए। एक अबला इतना साहस कर सकती है, इस बात की उसने स्वप्न में भी कल्पना नहीं की थी। उसका साहस उसे जवाब देने लगा; परन्तु, फिर कुछ सोच-समझकर उसने सिंगौरगढ़ में युद्ध की घोषणा करदी। 'अल्लाहो अकबर' की गगन-भेदी गरजना मुसलमानों को अनुप्राणित करने लगी। ऐसे अवसर पर दुर्गावती ने एक युक्ति से काम लिया। उसने, अपनी सेना को शत्रुओं के मुख में जाने से बचाने के लिए, मण्डला की ओर प्रस्थान किया; और वहाँ युद्ध के केन्द्रों पर अपना अधिकार जमा लिया। पीछे नदी बह रही

थी, सामने सतपुड़ा की उपत्यिका थी। यहाँ इन दोनों स्थानों के बीच में गोंड-सेना अत्यन्त सुरक्षित थी, उस पर न तोपों की मार कामकर सकती थी और न तलवारों की चोट। आसफ़ ख़ाँ यह देख कर दंग रह गया। वीर गोंड उपत्यिकाकी आड़ से मुग़ल-सेना में मार-काट मचा रहे थे, और मुग़लों के अस्त्र-शस्त्र बेकार हो रहे थे। यवन-सेना भागी जा रही थी। यह देख कर आसफ़ ख़ाँ खिसिया गया। उसने रानी दुर्गावती से संधि की प्रार्थना की और यह कहलाया कि यदि वीरनारायण दिल्ली दरबार में भेज दिया जाय और वह अकबर की संरक्षिता में शासन करना स्वीकार कर ले तो युद्ध बन्द कर दिया जाय।

रानी दुर्गावती संधि करना चाहती थी, परन्तु अपने सम्मान पर, अपनी आन पर, अपने पूर्वजो के नाम पर बट्टा लगा कर नहीं। वह स्वतन्त्रता के वातावरण में पली थी और स्वतन्त्र रहना चाहती थी। यवनों की संरक्षता में रह कर वह अपने आत्म सम्मान में धब्बा लगाना नहीं चाहती थी। अतएव आसफ़ ख़ाँ की यह बातें उसे विष में बुझे हुए बाणों की तरह मालूम हुईं। उसने उसके प्रस्ताव को ठुकरा दिया। आसफ़ ख़ाँ उसका वीरोचित उत्तर पाकर स्तंभित हो गया उसने समझ लिया कि दुर्गावती को नीचा दिखाना सरल नहीं है। ऐसी दशा में, वह अपना पथ भली भाँति निर्धारित न कर सका। वह हताश था, भयभीत था। सौभाग्यवश इसी समय दिल्ली से सहायता आ पहुँची। इस सामयिक सहायता ने उसकी मुरझाई हुई आशा-लता को पुनः हरा-भरा कर दिया। अब आसफ़ ख़ाँ ने नवीन उत्साह से तोपख़ाने के पीछे, अपनी सेना लगा दी और गोंड-सेना पर अग्नि-वर्षा आरम्भ कर दी।

दुर्गावती में अपूर्व साहस था। वह समझती थी कि मुग़लों की सेना बिना रंग दिखाये पीछे रहनेवाली नहीं है। इसलिए वह भी तैयार थी। वह भी पीछे हटनेवाली नहीं थी। मुग़लों के आक्रमण करते ही

मुग़लों की हार

वह दूने उत्साह से युद्ध में भाग लेने के लिए जा डटी। वह हाथी पर बैठी हुई अपनी सेना का संचालन कर रही थी। तोपों की अग्नि-वर्षा से वीर गोंड मर रहे थे। रानी स्वयं अपनी ख़ूनी तलवार से यवनों को मौत के घाट उतार रही थी। वह चारों ओर दौड़

पड़ती थी। उसका एक-एक वार सैकड़ों मुग़लों को धराशायी कर रहा था और उसके प्रबल प्रशस्त प्रहारों से लोगों के छक्के छूट रहे थे। यवनों में उसकी मार-काट से कुहराम मचा हुआ था। वीर-रस-उन्मत्त गोंड भी उसी उत्साह से अपनी जन्म-भूमि की रक्षा के लिए लड़ रहे थे। तलवार के आगे तोपें बेकार हो रही थीं। यह हाल देखकर विलासी मुग़लों के पैर उखड़ गये। रानी दुर्गावती को पुनः सफलता मिली। उसने अपने वस्त्र उतारे और देवी दुर्गा के चरणों में शीश झुका दिया।

आसफ़ ख़ाँ दो बार हार चुका था। लज्जा से उसका सिर झुका जा रहा था। एक स्त्री में इतना साहस, इतनी वीरता, और इतना उत्साह हो सकता है, यह उसे आज ही मालूम हुआ। यह विचार आते ही प्रतिशोध

पुनः युद्ध

की भावना से वह एक बार फिर साहस करके उठ खड़ा हुआ। उसने अपनी सेना जमा की और दुर्गावती से लोहा लेने के लिए मुग़ल-सेना को आगे बढ़ने की आज्ञा दे दी। इस समय रानी गढ़ा-मण्डला में विजयोत्सव मना रही थी। वह निश्चिंत थी। उसे स्वप्न में भी यह आशा नहीं थी कि आसफ़ ख़ाँ इतने शीघ्र उस पर आक्रमण कर देगा। इसलिए इस आक्रमण का समाचार पाते ही वह रोष से काँपने लगी। किसे भेजे और किसे न भेजे यह वह शीघ्र निर्णय न कर सकी। वैरी आगे बढ़ रहे थे और उसे तुरन्त उनका सामना करना था। ऐसी दशा में, उसने अपने १४ वर्ष के बालक, वीरनारायण, को प्रधान सेनापति बनाकर मुग़लों से युद्ध करने के लिए भेजा। बड़े-बड़े सरदारों को यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। उसे किसी बड़े सरदार को सेनापति बनाना चाहिए था। एक बालक के सेनापतित्व में लड़ना सरदारों के लिए अपमानजनक बात थी। यह सोच कर उन्होंने अपने हाथ ढीले कर दिये। मुग़लों की बन आयी। गोंड़ सेना भेड़-बकरी की भाँति काटी जाने लगी। दुर्ग की दीवार भी तोड़ दी गयी और मुग़ल उसके भीतर घुस गये।

रानी को जब इस दुखद घटना का समाचार मिला, तब वह भाँप गयी। उसने समझ लिया कि अब गोंडवाना का अन्त समीप है। फिर भी वह भय-

पुत्र की आहुति

भीत नहीं हुई। वह कवच पहनकर निकल पड़ी। उसने समस्त सेना को दो भागों में विभाजित किया। एक भाग का संचालन-भार उसने अपने कन्धों पर लिया और दूसरे भाग को उसने अपने पुत्र के हाथों में दे दिया। अब क्या था! भीषण मार-काट होने लगी। इसी मार-काट में राजकुमार वीरनारायण को किसी शत्रु का ऐसा हाथ लगा कि वह घोड़े से गिरकर छटपटाने लगा। माता का हृदय यह दृश्य न देख सका। वह पागल हो गयी। जिस पुत्र के लिए उसने स्वर्ग का परित्याग किया, जिसके लिए उसने प्रियतम की पुण्य चिता से मुख मोड़ा, जिसका मुख देखकर उसने वैधव्य-जीवन के १५ वर्ष हृदय पर वज्र रखकर हँसते-हँसते काट दिये, वही आज उसे धोखा दे रहा था; यह अनुभव करके वीर-माता का हृदय द्रवित हो गया। परन्तु जब उसके सामने वीरों की मर्यादा का, वंश और राष्ट्र के मान का प्रश्न आया; वह सँभल गयी। उसने अपने माया-मोह का आवरण हटा दिया और अपने विश्वास-पात्रों द्वारा घायल राजकुमार को चौरागढ़ के दुर्ग में पहुँचा दिया।

अन्तिम दर्शन

अब उसे कोई चिन्ता नहीं थी। उसके राजमहल का दीपक बुझ रहा था, उसकी आशालता मुरझा रही थी, फिर भी वह दूने उत्साह से आगे बढ़कर मुग़लों से युद्ध कर रही थी। इस समय वह अपने आपे में नहीं थी। रणचंडी की भाँति वह शत्रुओं का रक्त-पान कर रही थी। उसका हाथ मुग़लों के सर पर पड़ता था और आँख वीरनारायण की पालकी की ओर थीं। वह उसे अश्रु-पूरित नेत्रों से देख रही थी। उसका यह हाल देखकर मुग़ल-सेना भयभीत हो गयी और भागने ही को थी कि किसी ने एक तीर उसकी आँख में मार दिया। तीर लगते ही उसकी आँख निकल पड़ी। तीर बाहर गिर पड़ा। इतने पर भी उसका साहस नहीं छूटा। वह फिर सँभल कर बैठ गयी। इस बार उसकी गर्दन में तीर लगा। वह निरुत्साह हो गयी और अपने शरीर को कलंकित होने से बचाने के लिए उसने महावत के हाथों से कटार छीन कर अपनी छाती में भोंक ली। उसका शव वहीं गिर पड़ा। अपनी

महारानी का इस प्रकार प्राणान्त होते देखकर गोंडों का रक्त उबल पड़ा। उन्होंने चलते-चलते बहुत से मुग़लों को अपनी तलवार का निशाना बनाया, और स्वयं युद्ध स्थल में काम आये। दुर्गावती के साथ गोंडों के गौरव का भी अन्त हो गया।

गोंडों की हार से मुग़लों को लूटने का अवसर मिल गया। ख़ूब लूट-मार हुई। मुग़ल-सेना विजय-घोष करती हुई गोंडवाने के आन्तरिक प्रदेशों में घुस गयी। चौरागढ़ में वीरनारायण घायल पड़ा हुआ गोंडवाने का पतन जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहा था। मुग़लों ने उसे हाथी के पैरों के नीचे कुचलवाकर मार डाला। इस प्रकार गोंड-राज्य का अन्तिम दीपक बुझ गया और सन् १५६४ ई० में समस्त गोंडवाना मुग़लों के राज्यान्तर्गत आ गया।

वीराङ्गना दुर्गावती ने जहाँ अपने प्राण विसर्जन किए थे, वहाँ एक समाधि बना दी गयी। यह समाधि अब भी मौजूद है, और उस वीर रमणी की स्वातंत्र्य-प्रियता की याद दिलाती है। धन्य थी वह वीराङ्गना जिसके कोमल हृदय में अपने देश और समाज के लिए इतनी पवित्र भावना थी, जिसकी भुजाओं में राष्ट्र की रक्षा के लिए इतना बल था। आज भारत के नारी-समाज को उसके जीवन से जो स्फूर्ति, जो उपदेश और जो शिक्षा मिलती है वह अमूल्य है।

सुलताना रज़िया बेगम

आधी रात हो चुकी थी। शाही महल में सन्नाटा छाया हुआ था। बूढ़ा अलतमश अपनी चारपाई पर पड़ा हुआ करवटें बदल रहा था। वह सोने की कोशिश करता था; परन्तु उसे नींद नहीं आती थी। वह कुछ चिन्तित था, कुछ दुखी था। अपने लिए नहीं, अपने पुत्र के लिए नहीं; अपने परिवार के लिए नहीं; वरन् उस विस्तृत साम्राज्य के लिए जिसे बनाने में उसने अपना ख़ून, अपने सिपाहियों का ख़ून, अपने साथियों और मित्रों का ख़ून पानी की तरह बहाया था। वह बूढ़ा था। मौत उसके सर पर नाच रही थी। एक-एक क्षण उसके लिए भारी हो रहा था। इस समय उसका सारा साम्राज्य उसकी आँखों के सामने नाच रहा था। वह सोच रहा था—इतना बड़ा साम्राज्य किसे दूँ। पुत्र नालायक़ हैं; आराम-तलब हैं। उनके हाथों में पड़ कर इतनी बड़ी सलतनत एक दिन में तबाह हो जायगी, सारा ख़ज़ाना एक दिन में ख़ुशामदियों की नज़र हो जायगा, सारा किया-धरा मिट्टी में मिल जायगा। सोचते-सोचते सुबह हो गयी और वह अपने प्रश्न का उचित उत्तर न पा सका। सहसा वह उठा। उसके उठते ही एक युवती ने उसके शयनागार में प्रवेश किया। बादशाह सलामत ने ऊपर की ओर देखा। सामने रज़िया खड़ी मुसकरा रही थी। रज़िया उसे बहुत प्रिय थी। उसे देखते ही अलतमश ने कहा—तुम्हीं मेरा सवाल हल कर सकती हो, रज़िया!

"कैसा सवाल?"

"इतनी बड़ी सलतनत किसे दूँ? मुझे किसी पर यक़ीन नहीं है, रज़िया!"

"मैं क्या बताऊँ, अब्बा जान! आप बादशाह हैं। आपकी सलतनत है। आप जिसे चाहें दे सकते हैं। इसमें राय देने की मैं कोई ज़रूरत नहीं समझती।"

"नहीं, ज़रूरत है। तुम्हें बताना होगा, रज़िया! तुम मेरे सब लड़कों से ज़्यादह क़ाबिल हो। तुममें अक़्ल है, ताक़त है। मैं समझता हूँ कि तुम इतनी बड़ी सलतनत का इन्तज़ाम अच्छी तरह कर सकती हो। बोलो, रज़िया, क्या मैं ग़लत कह रहा हूँ?"

"आप सच कहते हैं; लेकिन........।"

"लेकिन क्या?"

"मैं औरत हूँ। यही मेरी कमज़ोरी है। इसके अलावा, इतनी बड़ी सलतनत की ज़िम्मेदारी एक औरत के कमज़ोर हाथों में देकर आप दुनिया की तारीख़ में एक नई बात करने जा रहे हैं।"

"नहीं रज़िया! तुम्हारा ख़याल ग़लत है। औरत कमज़ोर नहीं ताक़तवर होती है। इसके अलावा, तुम्हें सलतनत का मालिक बनाकर मैं कोई नई बात नहीं कर रहा हूँ। ऐसी बहुत-सी मिसालें मौजूद हैं जब औरतों ने मर्दों के मुक़ाबिले में अच्छा और क़ाबिल तारीफ़ काम किया है।" रज़िया ख़ामोश हो गयी और चुपचाप कमरे से बाहर निकल गयी। इस समय उसके हृदय में द्वन्द्व युद्ध हो रहा था।

इसमें सन्देह नहीं कि अलतमश ने अपने बाहु-बल से इतनी बड़ी सलतनत तैयार की थी। वह समझता था उसके मूल्य को, उसकी हक़ीक़त को।

अलतमश

इसलिए उसे मोह था। वह एक ग़ुलाम से सुलतान बना था। भारत में आने से पहले वह अलबारी के एक तुर्क का पुत्र था। कहा जाता है कि जब वह बच्चा था, तब उसके गाँव में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा। इसलिए उसके माता-पिता ने अपनी क्षुधाग्नि को तृप्त करने के लिए उसे क़ुतुबुद्दीन के हाथ, कुछ चाँदी के टुकड़ों पर, बेंच दिया। जब क़ुतुबुद्दीन भारत में आया तब उसे भी अपने साथ लेता आया। अनुपम सौंदर्य के साथ ही साथ परमात्मा ने उसे बुद्धि भी दी थी। इसलिए थोड़े ही दिनों में उसने अपने स्वामी के हृदय पर अधिकार जमा लिया, और धीरे-धीरे उन्नति करके बदायूँ का हाकिम हो गया। इस पद पर कुछ दिनों तक रहकर उसने राजनीति की सभी कूट-नीतियाँ भलीभाँति सीख लीं,

और अपने प्रान्त का इतना अच्छा प्रबंध किया कि क़ुतुबुद्दीन ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया।

अलतमश में बुद्धि थी, और बल भी था। क़ुतुबुद्दीन के पुत्र विलासी, चरित्र-हीन तथा आलसी थे। उनमें शासन करने की योग्यता नहीं थी। इसलिए सन् १२१० ई० में क़ुतुबुद्दीन की मृत्यु के पश्चात्, अलतमश ने दिल्ली की बादशाहत के लिए ज़ोर मारा। फलस्वरूप अपने स्वामी-पुत्र, आरामशाह, को हटाकर वह स्वयं बादशाह बन गया। उसने बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना करके अपने राज्य का सुविस्तार किया और अपने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। रज़िया ऐसे ही पिता की पुत्री थी। वह बड़ी सुन्दर और भावुक थी। इसलिए अलतमश का उस पर विशेष रूप से स्नेह था। वह उसे ही इतनी बड़ी सल्तनत देना चाहता था।

रज़िया की माता पढ़ी-लिखी नहीं थी। उसका स्वभाव भी बड़ा रूखा और चिड़चिड़ा था। इसलिए अधिकतर वह अपने पिता ही के साथ रहा करती थी, और उससे ही पढ़ना-लिखना सीखती थी।

बाल्यावस्था और शिक्षा

प्रतिभासम्पन्न होने के कारण कुछ ही दिनों में उसने अपने धार्मिक ग्रन्थ पढ़ लिए थे, और शासन-प्रबंध तथा राजनीति की बातें भी सीख ली थीं। विद्याध्ययन के साथ ही साथ, उसने घोड़े पर सवारी करने और तीर तथा तलवार चलाने में भी अच्छा अभ्यास प्राप्त कर लिया था। वह शिकार खेलना भी जानती थी। वह बहुधा अपने पिता के साथ शिकार खेलने जाया करती थी। एक बार शेर के शिकार में उसने अपने पिता की जान भी बचाई थी। तब से वह अन्य सन्तानों की अपेक्षा अलतमश की विशेष रूप से स्नेह-पात्री बन गई थी। वह हरम में रहती थी; परन्तु हरम की चालबाज़ियों का उसके जीवन पर लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ा था। उसका जीवन सादा और धार्मिक था। वह बाल्यावस्था से ही गम्भीर और उच्च विचार की थी। वह बड़ी विदुषी थी। इतिहासकारों का कहना है कि क़ुतुब-मीनार का शिला-लेख उसी की रचना है। इतनी विदुषी और इतने बड़े बादशाह की पुत्री होने पर भी, उसमें गर्व नहीं था। गुणों के साथ सुन्दरता

सोने में सुगन्ध का काम करती थी। उसे परदा से हार्दिक घृणा थी। वह दरबार में स्वतंत्रतापूर्वक जाती थी, और वहाँ की बातें सुना करती थी। इन बातों का उसके जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। यही कारण था कि अलतमश, जब कभी बाहर जाता था, रज़िया को ही शासन-भार सौंप जाता था।

अलतमश ने उत्तरी भारत पर १५ वर्ष तक सफलतापूर्वक शासन किया। इतनी अवधि में उसने भारत में मुसलमानी शासन की नींव दीर्घ काल के लिए दृढ़ कर दी। ऐसे दृढ़ साम्राज्य के लिए उसकी समझ में रज़िया ही उपयुक्त थी। इसलिए सन् १२३६ ई० में मरते समय उसने अपने पुत्रों की अयोग्यता और राज्य का विस्तार देखकर रज़िया को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। वह बहुधा कहा करता था कि मेरे पुत्र युवावस्था के दुर्व्यसनों में पड़े हुए हैं। उनमें से किसी में भी इतनी योग्यता नहीं है कि वह भारत के इतने बड़े साम्राज्य का समुचित प्रबन्ध कर सके। रज़िया ही इस कार्य का भलीभाँति प्रतिपादन कर सकती है। सच तो यह है कि अलतमश ने रज़िया के गुणों पर ही मुग्ध होकर उसे अपना उत्तराधिकारी बनाया था और दरबार के प्रधान मंत्री, मुशरिफ़ुल मुमालिक, ने राज-पत्र लिखकर इस बात को पक्का कर दिया था।

अलतमश की मृत्यु और गद्दी का प्रश्न

अलतमश की यह योजना न तो भारत के लिए नवीन थी, और न यवन-इतिहास के लिए। पुरुषों की भाँति स्त्रियाँ भी राज-सिंहासन पर बैठकर शासन कर सकती हैं, इस बात का भारत के हिन्दुओं की भाँति, मुसलमानों को भी पूरा ज्ञान था। ख्वारिज़्म की राजकुमारी, मलका तुर्कान ख़ातून, रज़िया ही की तरह शासन कर रही थी। तेरहवीं शताब्दी में मिस्र और फ़ारस पर यवन-महिलाओं का ही शासन था; परन्तु उस समय के भारतीय मुसलमान एक स्त्री के शासनान्तर्गत रहने में अपनी बड़ा अपमान समझते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अलतमश के आँख बन्द करते ही रज़िया बन्दी-गृह में डाल दी गयी, और दरबार के मंत्रियों तथा सरदारों ने

राज-पत्र की अवहेलना करके रुक्नुद्दीन को शासन का भार सौंप दिया। उसकी माता शाह तुर्कान संरक्षिका बना दी गयी।

शाह तुर्कान को अलतमश की अन्य पत्नियों से बड़ी शत्रुता थी। रज़िया की तो वह जानी दुश्मन थी। अलतमश के जीवन-काल में उसे अपने वैर-भाव को क्रियात्मक रूप देने का अवसर नहीं मिला; परन्तु उसके मरते ही उसने रज़िया के विरुद्ध षड्यंत्र रचना आरंभ कर दिया। रुक्नुद्दीन उसके हाथों का खिलौना था। वह जिस तरह चाहती थी उसे खिलाती थी और उसे विलासी-जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करती थी। रुक्नुद्दीन चाहता भी यही था। उसने राज्य-कार्य छोड़कर विलासी जीवन व्यतीत करना प्रारंभ किया और कोष का रुपया पानी की तरह बहाने लगा। चाटुकारों और बैठकबाज़ों ने अपने हाथ फैलाये। राज्य का प्रबन्ध बिगड़ने लगा। इधर राजमाता ने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए उचित और अनुचित सभी उपायों से काम लेना प्रारम्भ कर दिया। दरबार षड्यंत्रों का क्रीड़ा-स्थल बन गया। राज्य-गर्व के आवेश में आकर उसने अलतमश के द्वितीय पुत्र (जो दूसरी माता से था) क़ुत्बुद्दीन को मरवा डाला। राजमाता का यह निन्दनीय कार्य किसी अमीर को अच्छा नहीं लगा। राजमाता ने यह देखकर रज़िया को इन समस्त उपद्रवों की जड़ समझा और उसे मरवा डालने का षड्यंत्र रचा; परन्तु भेद खुल गया। अमीर बिगड़ गये, और वह बन्दी बना ली गयी। सात महीने के भीतर ही भीतर विलासिता और षड्यंत्र का यह नंगा नाच समाप्त हो गया।

शाह तुर्कान का षड्यन्त्र

रज़िया इन षड्यंत्रों और षड्यंत्रकारियों से बहुत सावधान रहती थी। इब्न बतूता ने लिखा है कि आये दिन दिल्ली-दरबार के षड्यंत्रों से भयभीत होकर रज़िया ने क़ुतुब-महल में जाकर शरण ली थी। वहाँ वह संन्यासिनी के वेष में रहती थी; क्योंकि उसको सदैव अपनी जान का भय लगा रहता था। जिस समय राजमाता के बन्दी होने का समाचार रज़िया को मिला, वह उसी वेष में महल के झरोखे पर आयी। महल के नीचे दिल्ली की जनता यह अपूर्व दृश्य देखने

राज्याभिषेक

के लिए टूट पड़ी। उस समय रज़िया की आँखों से प्रेमाश्रु प्रवाहित हो रहे थे। वह हाथ फैलाये हुए बड़ी नम्रतापूर्वक दिल्ली की जनता से सिंहासन की भीख माँग रही थी। उसकी मनोमुग्धकारिणी छवि, प्रजा के प्रति प्रेम तथा अपूर्व नम्रता ने चुम्बक की तरह सबके हृदय को अपनी ओर खींच लिया। उसकी दीनता पर सभी पिघल गये। कट्टर यवनों तक की कट्टरता जाती रही। इस प्रकार भारत की एक यवन-राजकुमारी ने अपने गुणों के जादू से सब को वश में कर लिया। अन्त में सरदारों ने उसे सुलताना की पदवी देकर दिल्ली के राज-सिंहासन पर बिठाया। उसका भाई यह विचित्र लीला देखकर पास की एक मसजिद में डर के मारे छिप रहा, परन्तु वह वहाँ से घसीट कर लाया गया, और रज़िया के सामने पेश किया गया। रज़िया ने उसका गला उतार लेने की आज्ञा देते हुए कहा—"क़ातिल को ज़रूर क़त्ल करना चाहिए।" इस प्रकार रज़िया ने अपनी बुद्धि, वीरता और कूट-नीति से काम लेकर दिल्ली के सिंहासन पर अपना अधिकार जमा लिया।

गद्दी पर बैठने के पश्चात् रज़िया ने अपने पिता, अलतमश, की स्मृति में एक विशाल भवन निर्माण कराया। इस भवन के भीतर अलतमश का मक़बरा बनवाया गया। यह मक़बरा दिल्ली में अब तक मौजूद है। रज़िया को चित्रकारी का इतना शौक़ था कि उसने इस भवन के बाहरी तथा भीतरी भाग को सजाने में कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी थी।

रज़िया का शासन-काल दुःख के काले बादलों से घिरा हुआ था। यद्यपि प्रजा की अनुमति ही से वह मलका बनी थी तथापि उस समय कुछ ऐसे-

आरम्भिक कठिनाइयाँ

संकुचित विचार के यवन-सरदार थे जो दरबार में एक स्त्री की प्रधानता देखकर मन ही मन कुढ़ा करते थे। इन सरदारों को भड़काने में मलका के भाइयों का भी हाथ था। यह लोग राज-दरबार में ऐसी बातों का प्रचार किया करते थे जिन्हें सुनकर लोगों का खून उबल पड़ता था। रज़िया यह जानते हुए भी अपने भाइयों को क्षति पहुँचाने की कभी कल्पना भी नहीं करती थी। वह आवश्यकता से अधिक उदार थी। उसके भाई उसकी इस प्रकार की उदारता से पूरा लाभ

उठा रहे थे ।

हमने ऊपर की पंक्तियों में रज़िया की जिन दो कठिनाइयों का उल्लेख किया है उनके अतिरिक्त उसकी एक कठिनाई और थी और वह थी उसकी सुन्दरता। रज़िया का अद्वितीय सौंदर्य वास्तव में उसका शत्रु था। जो देखता था वही मजनूँ हो जाता था। वह खुले मुँह दरबार में आती थी, मर्दों के कपड़े पहनती थी, बड़े-बड़े सरदारों से बात-चीत करती थी; परन्तु अपने हृदय को वह हाथ से न जाने देती थी। उसे पाने के लिए सरदार छटपटाया करते थे; परन्तु वह किसी के हाथ में नहीं आती थी। इससे लोग उसके ख़ून के प्यासे हो गये थे। ऐसे लोगों को बड़े-बड़े मुल्लाओं को भड़काने का अच्छा अवसर मिल गया था। एक प्रकार से रज़िया को सभ्य समाज में बदनाम करना ही उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था। परन्तु उन मुल्लाओं तथा सरदारों की इन काली करतूतों का उसके हृदय पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता था। वह उदार थी, सीमा से अधिक उदार थी। कहते हैं एक दिन किसी स्त्री ने उससे कहा—आप के भाई ने मंत्री से यह कहा है कि आप याक़ूत हब्शी पर आसक्त हैं। इससे हमारे वंश पर धब्बा लगता है। रज़िया ने इन शब्दों को सुनकर केवल इतना ही कहा—यदि मेरे पिता का समय होता तो वह मेरे भाइयों पर शरई हद् जारी करते। इस्लाम धर्म में शरई का अर्थ यह है कि यदि कोई किसी पर झूठा दोष लगाये तो उसको कोड़े मारे जायँ। वह मलका थी, सब कुछ कर सकती थी, परन्तु उसने उन सरदारों को कभी क्षति पहुँचाने की चेष्टा नहीं की। यही उसकी कमज़ोरी थी। इसी कमज़ोरी से लाभ उठाकर सरदार बराबर उपद्रव करते रहते थे।

जुनैदी उस समय रज़िया का कट्टर विरोधी था। वह अन्य सरदारों को मिला कर उसके विरुद्ध खड़ा हो गया। यह देखकर बदायूँ, मुलतान, हाँसी तथा लाहौर के हाकिमों ने भी विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। ऐसे कुसमय में अवध के सरदार नुसरतुद्दीन ने रज़िया की बड़ी सहायता की। रज़िया ने विद्रोहियों में फूट उत्पन्न करने के पश्चात् सब को मार भगाया। विद्रोह दमन होते ही समस्त सरदार उसकी अधीनता में आ गये। चारों ओर शान्ति हो

गयी। इसी बीच मुसलमानों के विरुद्ध एक नया दल उठ खड़ा हुआ।

नूरुद्दीन नामी एक तुर्क के भड़काने पर काफ़िरों के किरामिता और मुलाहिदा नाम के दो फ़िर्क़ों ने गुजरात, सिंध तथा यमुना के किनारे बसे हुए सूबों के बहुत से आदमियों को जमा करके दिल्ली के निकट इस्लाम धर्म को नष्ट करने का बीड़ा उठाया। नूरुद्दीन बड़ा योग्य पुरुष था। उसने जोशीली वक्तृताओं द्वारा इस्लाम धर्म को झूठा सिद्ध करना शुरू किया। देश में तह-लका मच गया। लगभग एक हज़ार षड्यंत्रकारी तलवार लेकर जामा मसजिद में घुस गये। उन लोगों ने बड़ी फुर्ती से चारों ओर मुसलमानों को घेर लिया; परन्तु यह उपद्रव पानी के बुलबुले के समान था। शाही सेना के सामने यह ज़रा देर भी न टिक सका। इसी प्रकार कुछ समय के पश्चात् ग्वालियर के हाकिम, रन्थमभोर के राजा तथा लाहौर के गवर्नर ने विद्रोह का झंडा ऊँचा किया; परन्तु उसने अपनी दूरदर्शिता एवं युद्ध-नीति से सब को नीचा दिखाया।

१३ वीं शताब्दी में एक कोमलाङ्गिनी यवन-राजकुमारी महारानी बनकर अपने वैरियों पर इस प्रकार विजय पा सकती है, इसका किसी को स्वप्न में भी अनुमान न था। रज़िया ने जिस वीरता के साथ विद्रोही सरदारों और षड्यंत्रकारियों का दमन किया, उसे देखकर लोगों की आँखें खुल गयीं। उसकी

योग्यता

बुद्धिमत्ता, न्यायप्रियता, निर्भीकता, विद्या-प्रेम तथा राजनीति-पटुता को देख कर बड़े-बड़े सरदार, जो अपने बराबर किसी को नहीं सेटते थे, दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। जिस समय रज़िया वीरों की पोशाक पहन कर, मर्दों की भाँति, घोड़े पर बैठती थी, उस समय बड़े-बड़े वीरों का दिल दहल जाता था। वह सदैव मर्दाने लिबास में रहती थी। वह चोग़ा पहनती थी, और सिर पर टोपी देती थी। स्त्री होकर उसने पुरुषों का हृदय पाया था। दरबार में उसे परदे की आवश्यकता नहीं थी। वह खुले आम शासन का सारा काम देखती थी। वह स्वयं विद्रोहियों का सामना करने जाती थी। यद्यपि उसका जीवन अधिकतर विद्रोहियों को दमन करने में ही व्यतीत हुआ था

यथापि प्रजा की भलाई के लिए उसने कई काम किये। उसने तत्कालीन कतिपय भयानक रीति-रवाजों में सुधार किया, शासन-विधान में परिवर्तन किया और निर्धन किसानों के लिए सुविधाएँ उपस्थित कीं। वह स्वयं प्रार्थियों की प्रार्थनाएँ सुनती थी और न्याय करती थी। वह युद्ध-कला में भी बड़ी प्रवीण थी। एक सफल शासक के लिए जिन गुणों की आवश्यकता हो सकती है, उन सब का रज़िया में पूर्ण रूप से समावेश हुआ था।

रज़िया अपने समय की अद्वितीय सुन्दरी थी। राजकुर हरदेव अहमद अयाज़ ख़्वाजा ने 'चहल रोज़ा' नाम की एक पुस्तक फ़ारसी भाषा में लिखी है।

गर्विता रज़िया

लेखक ने इस पुस्तक में रज़िया के सौंदर्य के विषय में लिखा है कि वह इतनी सुन्दर थी कि किसी को उसके मुख की ओर देखने का साहस नहीं होता था। उसका चेहरा सूर्य की भाँति चमकता रहता था। उसकी आँखों में लाल लाल डोरे थे। उसकी आँखों में नशा था। उसकी पलकें लम्बी तथा नोकदार थीं। उसकी भृकुटियों के मध्य में एक लाल चिन्ह था। उसके होंठ पतले और गुलाबी थे। वह स्वयं अपने सौंदर्य पर मुग्ध थी और अपने रूप की प्रशंसा सुनकर बहुत प्रसन्न होती थी। वह सुन्दर स्त्री-पुरुषों का आदर भी करती थी। किसी सुन्दर स्त्री अथवा पुरुष का अपमान तो वह सही नहीं सकती थी। कहते हैं एक सुन्दर दासी का मुक़द्दमा उसके दरबार में पेश हुआ। उसने एक मौलवी को शैतान की सूरत वाला कहा था। रज़िया ने दासी का बयान लिया। दासी ने कहा—हाँ, मैंने मौलवी के गन्दे वस्त्र तथा उनकी सूरत देखकर उनको शैतान कहा था।

दासी का यह उत्तर सुनकर रज़िया ने कहा—अच्छा यदि तुमसे कोई यह पूछे कि स्वर्ग की अप्सरा कैसी होती है तो तू किस से उपमा देगी?

दासी ने कहा—मैं स्वर्ग की अप्सरा आपको कह सकती थी, परन्तु सात स्वर्गों में कोई अप्सरा आप के समान सुन्दर न होगी। इसलिए यह कहूँगी कि जिसको स्वर्ग की अप्सरा देखनी हो वह मुझे देख ले।

रज़िया बहुत कम हँसती थी मगर दासी की इस बात से उसे हँसी आ

गयी । उसने हँसी रोककर कहा—तू ने दीन के आलम की तौहीनी की है । मैं तेरी ज़बान काटने की आज्ञा देती, परन्तु रसूले खुदा सलअअम ने ऐसी सज़ा देने से मना किया है । इसलिए मैं यह सज़ा देती हूँ कि तू सात दिन तक मौन धारण कर ।

चरित्र

रज़िया बड़ी धार्मिक थी । वह नमाज़-रोज़ा की बहुत पाबन्द थी । वह बहुत कम खाना खाती थी । वह मंत्रियों तथा अमीरों से देश के समाचार सुनती थी और अन्त में अपनी आज्ञा सुना देती थी । बीच में बोलना वह असभ्यता समझती थी ।

एक दिन रज़िया के सामने एक अभियुक्त पेश किया गया और यह कहा गया कि इसने अमुक व्यक्ति के सामने कहा है कि मैं मलका पर आसक्त हूँ और उसके वियोग में रात-दिन जागता रहता हूँ । यह सुनकर रज़िया ने आज्ञा दी कि भविष्य में ऐसी बातें मेरे सामने न लाई जायँ । अभियुक्त पागल है । उसके तथा उसको लानेवालों के मस्तिष्क में नश्तर लगाया जाय ।"

एक दिन रज़िया ने अपने बावरची ख़ाने में अपनी बावरचिन को देखा कि जब उसकी नाक बहने लगी तब उसने तुरन्त अपनी आस्तीन से उसे पोंछ लिया । रज़िया ने तुरन्त आज्ञा दी कि उसकी नाक काट ली जाय । इसी प्रकार एक दिन उसके सामने एक ऐसा मनुष्य पेश हुआ जिसने अपनी स्त्री को ढाल से मारा था । जब रज़िया ने उसका बयान लिया तब उसने कहा कि उसने खाने में नमक तेज़ कर दिया था । रज़िया को स्त्री की इस असावधानी पर बड़ा रोष आया । उसने आज्ञा दी कि पुरुष छोड़ दिया जाय और उसकी स्त्री के मुख में नमक भर दिया जाय । एक स्त्री ने इस कठोर दण्ड का प्रतिवाद किया । रज़िया ने कहा कि स्त्रियों को सभ्य बनाने के लिए इससे कोमल दण्ड और कोई नहीं हो सकता ।

रज़िया को प्रेम की कहानियों से बड़ी घृणा थी । एक दिन किसी स्त्री ने उसे हज़रत यूसुफ़ और जुलेखाँ की प्रेम कहानी सुनाना आरम्भ किया । रज़िया ने कहा—जब स्त्री को घर में कोई काम नहीं होता तब उसे प्रेम सूझता है ।

भविष्य में मेरे सामने किसी के प्रेम की चरचा न की जाय। मैं निकम्मी नहीं हूँ और न निकम्मी बनना चाहती हूँ।

रज़िया की इन बातों से उसके चरित्र-बल का यथेष्ठ परिचय मिल सकता है, परन्तु वह युग ही उसके अनुकूल नहीं था।

चरित्र पर संदेह

अब तक रज़िया अविवाहित थी। विवाह करने पर उसे कैसी-कैसी आपत्तियों का सामना करना पड़ेगा, यह वह भली भाँति जानती थी। इस लिए उसने अपना विवाह ही नहीं किया। राज्य की भलाई के लिए उसका यह महान त्याग था, परन्तु उस समय इसका मुल्य ही क्या था! यदि उस समय की यवन-सभ्यता ने रज़िया के इस त्याग का आदर किया होता, तो गुलाम-वंश का वह युग नारी-जगत के इतिहास में सर्वश्रेष्ठ स्थान पाता; परन्तु यह विचार उस समय के लोगों से कोसों दूर था। उस समय स्त्रियों का अविवाहित रहना सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। रज़िया भी इसी सन्देह का शिकार बनी।

रज़िया के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि अबीसीनिया के एक हब्शी जमालुद्दीन याक़ूत से उसका अनुचित सम्बन्ध था। इस सन्देह में कहाँ तक सत्यता है, इसके बारे में इतिहासकार चुप हैं। इब्नबतूता के लेखों से कोई सत्य बात नहीं प्रकट होती। तबक़ाते नासिरी का कहना है कि सुलताना (रज़िया) के साथ रहने से वह मुँहलगू हो गया था और रज़िया की उस पर दया दृष्टि भी थी। फ़रिश्ता लिखता है कि जिस समय रज़िया घोड़े पर चढ़ा करती थी उस समय वह (दास) उसको ऊपर उठाकर घोड़े पर बिठा देता था। यह काम उसके अतिरिक्त कोई दूसरा नहीं करता था। तबक़ाते अकबरी का कहना है कि जिस समय रज़िया घोड़े पर सवार होती थी, उस समय याक़ूत उसकी भुजाओं के नीचे हाथ डाल कर उसे उठा लेता था और घोड़े पर बिठा देता था। बदायूनी का भी यही कहना है।

रज़िया पर जो सन्देह किया जाता है वह इन्हीं बातों पर आश्रित है। परन्तु इनमें कहाँ तक सत्यता है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह बात अवश्य है कि एक अविवाहित स्त्री के लिए ये बातें सन्देह का कारण बन

सकती हैं। पाश्चात्य सभ्यता चाहे इसे सन्देह की दृष्टि से न देखे, परन्तु मुसलमानी सभ्यता में पले हुए उस समय के सरदार इसे सन्देह की दृष्टि से अवश्य देखते थे। उच्च घराने के बड़े-बड़े सरदारों के रहते हुए भी, रज़िया उस दास ही से यह काम क्यों लेती थीं, यही सन्देह की बात थी।

इस सन्देह को दूर करने के लिए दो बातों पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। स्त्रियों का जिन पुरुषों पर विश्वास होता है, उन्हीं से वह इस प्रकार का काम ले सकती हैं। रज़िया को उस समय के दरबारियों का हाल मालूम था। वह कितने विश्वासहीन, विलासप्रिय तथा आमोद-प्रमोद में लिप्त रहनेवाले थे, यह बात रज़िया से छिपी नहीं थी। यही कारण था कि वह किसी सरदार का इस काम में विश्वास नहीं करती थी। केवल याक़ूत पर ही उसका विश्वास था; और वही यह काम कर सकता था। यदि हम इसे भी न मानें, तो इस सन्देह को दूर करने के लिए यह कहा जा सकता है कि यदि उस दास के अतिरिक्त कोई दूसरा इस काम को करता होता, तो उसका भी रज़िया के साथ अनुचित सम्बन्ध बताया जाता।

अब हम यदि उस समय की स्थिति पर विचार करें तो हमको पता चलेगा कि यह उन अमीरों और सरदारों के मस्तिष्क की अनोखी सूझ थी जो एक स्त्री की अधीनता में रहना अपनी मर्यादा के विरुद्ध समझते थे। यह उन लोगों का ऐसा हथियार था जिससे नारी-हृदय हमेशा के लिए कुचला जा सकता था और शान्त प्रजा में विद्रोह की आग भड़कायी जा सकती थी। यह एक ऐसा नुसख़ा था जो रोग पर तुरन्त अपना असर दिखानेवाला था। इसे एक मनुष्य ने सोचकर अपने दिमाग़ से नहीं निकाला था। यह काम उन चालीस दासों की एक मण्डली का था जिसने इस प्रकार सन्देह करते हुए यह कहकर लोगों को भड़काना शुरू कर दिया था कि स्त्री का इस प्रकार तलवार लेकर समराङ्गण में जाना और दरबार में हर एक से बातें करना यवन-सभ्यता के सदैव प्रतिकूल और पवित्र क़ुरान की शिक्षा के विरुद्ध है। इसी विचार से प्रभावित होकर धर्म के नाम पर अंधविश्वास करने और मरने-वाले उस समय के फ़सादी मुसलमानों ने विद्रोह कर दिया।

सब से पहले तबरहिन्द के जागीरदार, अख़्तियारुद्दीन अलतूनियाँ ने विद्रोह किया। अतः वह उसे दण्ड देने के लिए दिल्ली से रवाना हुई; परन्तु

सरदारों का विद्रोह

तबरहिन्द पहुँचते ही तुर्की अमीरों ने उसके दास, याक़ूत, की हत्या करके उसे बन्दी कर लिया, और अलतूनियाँ की देख-रेख में छोड़ दिया।

रज़िया बड़े संकट में पड़ गयी। तबरहिन्द में उसका कोई सहायक नहीं था। एक ऐसी स्त्री कोई और उपाय न रहने पर जिस तरह कामी पुरुषों के पंजे से छुटकारा पा सकती है, रज़िया उसे जानती थी। अपने बचने का अन्य उपाय न देख कर उसने अलतूनियाँ पर प्रेम जा जाल फेंका। शिकार फँस गया। दोनों राज-भोग की अभिलाषा से दिल्ली की ओर बढ़े।

इधर अमीरों ने रज़िया की अनुपस्थिति में उसके भाई, मुइज़ुद्दीन बहराम शाह, को गद्दी पर बिठा दिया। अलतूनियाँ के आने का समाचार पाते ही नये

पराजय और मृत्यु

बादशाह ने उन दोनों का सामना किया। १२ अक्टूबर सन् १२३६ ई० को दोनों ओर से युद्ध होने लगा। रज़िया और अलतूनियाँ के पैर उखड़ गये। दोनों कैथल की ओर भागे। शाही सेना ने उनका पीछा किया, और फिर युद्ध छिड़ गया; परन्तु अलतूनियाँ की सेना के विश्वासघात के कारण दोनों हार गये। अन्त में दोनों पकड़े गये और उनकी गर्दनें उड़ा दी गयीं। रज़िया का मृतक शरीर दिल्ली में कलाँ मसजिद के निकट उत्तर की ओर दफ़ना दिया गया। इस प्रकार एक यवन-कुमारी ने समाज के पापाचारियों का शिकार बनकर अपने जीवन की बलि दी। भारतीय इतिहास के उज्ज्वल पृष्ठों पर यह घटना एक ऐसी कलंक कालिमा है जिसे आज भी प्रत्येक स्त्री-पुरुष घृणा की दृष्टि से देखता है।

सुलताना चाँद बीबी

उसका नाम था चाँद। वह हरम का चाँद थी। दक्षिण भारत का चाँद थी। वह सचमुच चाँद-सी सुन्दर थी। वह उत्पन्न हुई थी उस समय जब सारा दक्षिण भारत स्वतंत्रता के वायु-मंडल में साँस ले रहा था। बहमनी राज्य का अन्त हो चुका था, और उसके स्थान पर बीदर, बरार, अहमदनगर, बीजापुर तथा गोलकुण्डा के पाँच स्वतंत्र राज्य स्थापित हो चुके थे। अहमदनगर में निज़ामशाही वंश का राज्य था। इसी वंश के तृतीय बादशाह, हुसेन निज़ामशाह, के एक पुत्री थी। इसका नाम चाँद ख़ातून था।

चाँद ख़ातून का जन्म सन् १५५४ ई० के लगभग हुआ था। वह बड़ी सुन्दर और तेजस्वी बालिका थी। उसके पिता, हुसेन निज़ामशाह, ने उसे बड़े प्यार से पाला था, और उस समय के अनुसार उसे जन्म और शिक्षा शिक्षा दी थी। वह बड़ी भावुक और प्रतिभासम्पन्न थी, इसलिए थोड़े ही दिनों में उसने मराठी, अरबी तथा फ़ारसी भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था। वह चित्रकारी भी भलीभाँति जानती थी, और ऐसे सुन्दर फूल बनाती थी कि बड़े-बड़े कला-पारखी उसकी हस्तकला पर मुग्ध हो जाते थे। वह वीणा भी ख़ूब बजाती थी। जिस समय उसकी कोमल अँगुलियाँ वीणा के तार पर थिरकने लगती थीं, उस समय एक अभूतपूर्व समाँ बँध जाता था। कभी-कभी वह गाती भी थी। उसके स्वर में बड़ा उन्माद, आकर्षण और लोच था। वह अपनी माता के साथ अन्तःपुर में रहती थी; परन्तु वहाँ की कूट-नीतियों का उसके कोमल हृदय पर लेशमात्र भी प्रभाव न पड़ा था। इस प्रकार उसने अपने जीवन के प्रभात काल ही में उन समस्त गुणों को धारण कर लिया था, जो भविष्य में उसके लिए बड़े लाभदायक सिद्ध हुए।

अब वह लगभग १०-११ वर्ष की हो चुकी थी। इसलिए निज़ामशाह

को उसके विवाह की चिन्ता हुई। पास ही बीजापुर की सलतनत थी। अली आदिलशाह वहाँ का सुलतान था। निज़ामशाह ने उसी के साथ अपनी चाँद का विवाह कर दिया। इस विवाह से दोनों राज्यों में मैत्री स्थापित हो गयी। आदिलशाह ने इस नवीन सम्बन्ध को और भी दृढ़ करने के विचार से अपनी बहिन का विवाह अहमदनगर के राजकुमार के साथ कर दिया।

दाम्पत्य जीवन

विवाह के पश्चात् चाँद ख़ातून चाँद बीबी हो गयी। वह अपना पीहर छोड़कर बीजापुर के अन्तःपुर में रहने लगी। उस समय उसके पति की अवस्था बहुत अधिक थी, इसलिए वह अन्तःपुर में एकान्त जीवन व्यतीत न कर सकी। वह अपने पति के साथ राज्य के सभी कामों में भाग लेने लगी। वह दरबार में भी उसके साथ जाती थी, और लोगों के सामने मुँह खोल कर बैठती थी। बालिका होने के कारण कोई भी उसके ऐसे साहस का विरोध नहीं करता था। वह घोड़े की सवारी भी करती थी, और अपने पति के साथ शिकार खेलने भी जाया करती थी। जब वह घोड़े पर पुरुषों की भाँति सज-धज कर बैठती थी, तब उसकी प्रजा अपनी किशोरावस्था प्राप्त महारानी को देखकर हर्ष और आनन्द से परिपूर्ण हो जाती थी। इस प्रकार जिन गुणों को उसे अपने पीहर में सीखने का अवसर नहीं मिला था, उन्हें उसने अपने पति के साथ रहकर सीख लिया था। बीजापुर की मातृभाषा कनाड़ी थी, इसलिए उसने इस भाषा का ज्ञान भी अच्छी तरह प्राप्त कर लिया था; और अपनी प्रजा से उन्हीं की भाषा में अच्छी तरह बात-चीत कर सकती थी। इससे वह अपने राज्य में अधिक लोक-प्रिय हो गयी थी। अपने पति के प्रति वह विशेष प्रेम रखती थी। उठते-बैठते, खाते-पीते और सोते-जागते वह सदैव अपने पति को सन्तुष्ट रखने की चेष्टा किया करती थी; परन्तु उसके भाग्य में अधिक समय तक पति-सुख-सम्भोग नहीं बदा था। किशोरावस्था से युवावस्था में पदार्पण करते ही, सन् १५८० ई० में, उसके दाम्पत्य-जीवन का दीपक बुझ गया। अली आदिलशाह कालकवलित हो गये, और वह विधवा हो गयी।

पति की असामयिक मृत्यु से चाँद बीबी को बड़ा दुःख हुआ। काली की

भाँति खिलते ही वह मुर्झा गयी। प्रजा भी उसके दुःख से बहुत दुखी हुई।

सतारा-दुर्ग में बन्दी-जीवन

उसने उसका शोक हल्का करने के विचार से उसके भतीजे, द्वितीय इब्राहिम आदिलशाह को बीजापुर की गद्दी पर बिठा दिया। इस समय वह केवल नौ वर्ष का था। इसलिए चाँद बीबी संरक्षिका नियुक्त की गयी; परन्तु सर्वगुण सम्पन्न होने पर भी वह इस पद पर अधिक दिनों तक सफलता पूर्वक कार्य न कर सकी। इब्राहिम अबोध बालक था। उसकी अभिभाविका यौवन के तरङ्गों में झूलती हुई एक स्त्री थी। ऐसी दशा में, अमीरों ने अपना स्वार्थ साधन करने के लिए षड्यन्त्र रचना आरम्भ कर दिया। इन षड्यंत्रकारियों में प्रधान मंत्री, कमाल ख़ाँ, प्रमुख था। उसने बालक इब्राहिम और चाँद बीबी में अनबन उत्पन्न कराने की बड़ी चेष्टा की; परन्तु अन्त में भेद खुल जाने पर उसे अपनी जान से हाथ धोना पड़ा। अब किशवर ख़ाँ मंत्री बनाया गया। वह षड्यंत्र रचने में कमाल ख़ाँ से भी बढ़कर सिद्ध हुआ। उसने सुलताना के विमल चरित्र पर कलंक लगाने की कुचेष्टा की, और उसके विश्वस्त बन्धु, मुस्तफ़ा ख़ाँ, को मौत के घाट उतार दिया। इतना ही नहीं, उसने चाँद बीबी को बन्दी करके सतारा के दुर्ग में डाल दिया। प्रजा, किशवर ख़ाँ का, यह अन्तिम अपराध न सहन कर सकी। एक दिन जब वह घोड़े पर सवार होकर नगर की प्रधान सड़क से जा रहा था, तब प्रजा ने उस पर ईंट-पत्थर फेंके, और गालियाँ देकर उसकी सारी शान मिट्टी में मिला दी। इस घटना से लज्जित होकर वह भाग गया। मार्ग में मुस्तफ़ा के किसी सम्बन्धी ने उसे मार डाला। चाँद बीबी सतारा के दुर्ग से मुक्त करके बीजापुर लायी गयी। प्रजा के हर्ष-ध्वनि के बीच उसने अपनी राजधानी में पुनः प्रवेश किया।

किशवर ख़ाँ की मृत्यु के पश्चात्, एक़बाल ख़ाँ, मंत्री-पद पर नियुक्त किया गया। वह अबीसीनियाँ-निवासी था। उसने अपने सजातीय बन्धुओं की सहायता से सेना में फूट का बीज बो दिया। यह दशा

बीजापुर पर आक्रमण

देखकर बरार, बीदर, तथा गोलकुंडा के बादशाहों ने अपनी-अपनी सेना सुसज्जित की, और बीजापुर पर आक-

मण कर दिया। चाँद बीबी ने ऐसे संकट के समय में सब बातों पर परदा डालकर अपने पति की जन्म-भूमि की रक्षा के लिए तैयारी हो गयी। एक स्त्री का इतना साहस देखकर हतोत्साह वीरों को भी जोश आ गया। इसका परिमाण यह हुआ कि विद्रोही साहस छोड़कर भाग खड़े हुए। सन् १५८५ ई० में गोलकुंडा और बीजापुर में सन्धि हो गयी और इब्राहिम आदिल-शाह का विवाह गोलकुंडा के तत्कालीन बादशाह की बहिन, ताज सुलताना, के साथ हो गया। इस प्रकार चाँद बीबी ने अपनी युक्ति, राजनीति-पटुता और बुद्धि-बल से बीजापुर पर आयी हुई बला टाल दी। प्रजा शान्तिपूर्वक रहने लगी। दिलावर ख़ाँ सर्वेसर्वा हो गया। इसी बीच चाँद बीबी को अपने पीहर से निमंत्रण मिला।

पीहर का निमंत्रण स्त्रियों को अधिक आनन्ददायक होता है, परन्तु चाँद बीबी निमंत्रण पाकर चिन्तित हो गयी। एक ओर तो उसे बीजापुर की प्रजा का ध्यान था और दूसरी ओर पीहर का निमंत्रण।

अहमद नगर में कलह

अन्त में वह कुछ सोच-समझ कर अहमदनगर चली गयी। वहाँ उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् उसका भाई मुर्तजा निज़ामशाह शासक बना। वह दुराचारी था। उसने अपने क्रूर व्यवहारों से सब को अपना वैरी बना लिया था। वह बड़े-बड़े अमीरों को गालियाँ दे देता था और कभी-कभी पागलों का-सा आचरण भी करने लगता था। एक बार उसने अपने पुत्र, मीरान हुसेन की जान भी लेनी चाही। तब मीरान हुसेन ने प्रधान-मन्त्री मिर्ज़ा ख़ाँ की सहायता से उसे बन्दी करके मार डाला। इस प्रकार पिता की जान लेकर मीरान हुसेन गद्दी पर बैठा; परन्तु वह भी अधिक दिनों तक राज्य न कर सका। एक दिन मिर्ज़ा ख़ाँ ने उसे भी मौत के घाट उतार दिया। उस समय चाँद बीबी के दूसरे भाई, बुर्हान निज़ामशाह के दो पुत्र इस्माइल ख़ाँ और इब्राहिम लोहगढ़ में बन्दी थे। मिर्ज़ा ख़ाँ ने उन्हें मुक्त करके १२ वर्षीय बालक इब्राहिम को बादशाह बनाया; परन्तु जमाल ख़ाँ नाम के एक सैनिक ने इस का घोर विरोध किया। वह क़िले के भीतर घुस गया और फिर उसने ख़ूब

लूट-मार की। मिर्ज़ा ख़ाँ पकड़ कर मार डाला गया। जमाल ख़ाँ की तूती बोलने लगी। उसने इस्माइल निज़ाम का पक्ष लिया, और इब्राहिम को हटा कर उसे गद्दी पर बिठाया। स्वार्थ-साधन का यह नग्न नृत्य चाँद बीबी से न देखा गया। वह ऊब कर बीजापुर चली गयी।

जब बुर्हान निज़ामशाह को इस बात की सूचना मिली, तब उसने अकबर की सहायता से अपने पुत्र को मारकर राजसिंहासन पर अधिकार जमा लिया। इस कार्य में सलाबत ख़ाँ तथा बीजापुर के प्रधान मंत्री दिलावर ख़ाँ ने भी सहायता की थी। इसलिए दिलावर ख़ाँ प्रधान मंत्री बना दिया गया। उसने बुर्हान निज़ामशाह को बीजापुर पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित किया। दोनों सेना लेकर बीजापुर की ओर अग्रसर हुए। जब बीजापुर के शासक इब्राहिम आदिलशाह को यह सूचना मिली, तो उसने दिलावर ख़ाँ को प्रलो-भन देकर अपनी ओर मिला लिया और बाद को उसे मरवा डाला। बुर्हान निज़ामशाह अहमद नगर लौट गया। १५ मार्च सन् १५६४ ई० को उसकी मृत्यु हो गयी। तत्पश्चात् उसका पुत्र, इब्राहिम, जो पहले गद्दी से उतार दिया गया था, पुनः बादशाह बनाया गया। उसका शिक्षक, मियाँ मंजू प्रधान मन्त्री बना; परन्तु फिर दारुण गृह-विवाद का उपक्रम होने लगा। एख़लास खाँ ने मंजू के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। चाँद बीबी अब तक अपने पीहर के कार्य-कलाप चुप-चाप देख ही रही थी; परन्तु अब वह शान्त न रह सकी। उसने इब्राहिम आदिल शाह को अहमदनगर पर आक्रमण करने के लिए उत्तेजित किया। यह सूचना पाते ही मियाँ मंजू और एख़लास ख़ाँ मिल गये। दोनों ने मिलकर बीजापुर की सेना से युद्ध किया। इस युद्ध में इब्राहिम निज़ामशाह की मृत्यु हो गयी।

इब्राहिम निज़ाम शाह की मृत्यु

चाँद बीबी की प्रबल इच्छा थी कि इब्राहिम निज़ाम के स्थान पर उसका दुग्ध-पोष्य शिशु-पुत्र बहादुर ही बादशाह हो। हब्शी सरदार एख़लास ख़ाँ, भी उसकी इस मंत्रणा से सहमत था। अतः उसने मियाँ मंजू से इस आशय का प्रस्ताव किया और चाँद बीबी को संरक्षिका नियुक्त करने की इच्छा प्रकट की। मियाँ मंजू

चाँद बीबी की चिन्ता

को यह बात न जँची। उसने बहादुर को चावन्द-दुर्ग में बन्दी करके एक अपरिचित बालक को गद्दी पर बिठा दिया। इस पर एख़लास ख़ाँ ने मियाँ मंजू पर आक्रमण कर दिया। इस युद्ध में नया बादशाह मारा गया। एख़लास ख़ां ने यह देखकर बहादुर को चावन्द-दुर्ग से मुक्त करने की चेष्टा की; परन्तु वह सफल न हो सका। अन्त में उसने बहादुर के सम-वयस्क मोती नामक एक बालक को बादशाह घोषित करके १२ हज़ार सिपाहियों की एक सेना बनायी। मियां मंजू घबड़ा गया। उसने अकबर के पुत्र मुराद से सहायता के लिए प्रार्थना की; परन्तु बाद को उसे अपनी मूर्खता पर बड़ा अनुताप हुआ। उसने अपनी भूल स्वीकार की और चाँद बीबी से अहमदनगर की रक्षा के लिए प्रार्थना की।

चाँद बीबी अहमदनगर की जटिल परिस्थिति से भलीभाँति परिचित थी। उसे अपनी जन्म-भूमि की दुर्दशा पर दुःख भी था। वह अहमद-नगर की रक्षा के लिए उत्सुक थी। ऐसे ही समय में उसे मियाँ मंजू का सहायता के लिए निमंत्रण मिला। वह तुरन्त तैयार हो गयी। उसके साथ उसका दत्तक पुत्र अब्बास ख़ाँ और उसकी धर्मपत्नी ज़ोहरा ने भी अहमदनगर के लिए प्रस्थान किया।

अहमदनगर की ओर प्रस्थान

इस समय अहमदनगर में गद्दी के तीन दावेदार थे। मियाँ मंजू अहमद-शाह के पक्ष में था; एख़लास ख़ाँ मोती की सहायता कर रहा था; और हब्शी सेना-नायक नेहँग ख़ाँ बुर्हान निज़ाम के एक सप्त वर्षीय पुत्र शाह-अली को बादशाह बनाना चाहता था। बहादुरशाह इस समय भी चावन्द-दुर्ग में बंदी-जीवन व्यतीत कर रहा था। चाँद बीबी यह दशा देखकर बड़े संकट में पड़ गयी। किसका पक्ष समर्थन करना चाहिए और किसका नहीं, यह वह शीघ्र निश्चय न कर सकी। अन्त में, उसने सब को मुग़ल-आक्रमण से अहमदनगर की रक्षा करने के लिए उत्तेजित किया। इसका फल यह हुआ कि सब लोग आपस की शत्रुता भूलकर एक उद्देश्य से समराङ्गण में उतर पड़े। चाँद बीबी ने अहमदनगर की रक्षा का कुल भार अपने ऊपर ले

लिया, और वह मुग़लों से युद्ध करने की तैयारी करने लगी।

यह पहले लिखा जा चुका है कि मियाँ मंजू की प्रार्थना पर अकबर के पुत्र ने अहमदनगर की ओर प्रस्थान किया था। वह समझता था कि अहमद गृह-कलह के कारण शीघ्र ही आत्मसमर्पण कर देगा; परन्तु चाँद बीबी के आते ही उसकी आशाओं पर पानी फिर गया। उसको आमंत्रित करनेवाला मियाँ मंजू स्वयं उसके विरुद्ध था। यह दशा देखकर मुग़ल-सेना-नायकों ने दुर्ग के एक ओर पाँच सुरङ्गें बनायीं और यह निश्चय किया कि दूसरे दिन प्रातःकाल उनमें आग लगाकर दुर्ग उड़ा दिया जाय। सौभाग्य से चाँद बीबी को रात ही में ख़्वाजा मुहम्मद ख़ाँ शीराज़ी द्वारा इस भावी दुर्घटना की सूचना मिल गयी। उसने तुरन्त दो सुरङ्गों का पता लगाकर उन्हें नष्ट कर दिया। मुराद को जब इस बात का पता लगा तब उसने प्रधान सुरङ्ग में आग लगा दी। इससे प्राचीर का बहुत-सा भाग गिर पड़ा और लोग घबरा कर भागने लगे। चाँद बीबी यह दशा देखकर रण-चंडी के वेष में बाहर निकल आयी। भीरु योद्धागण उस वीर महिला का साहस देखकर दंग रह गये। उसने सब को ललकारा, और युद्ध करने के लिए उत्तेजित किया। फलस्वरूप दोनों ओर से घोर युद्ध होने लगा। चारों ओर चाँद बीबी की प्रलयकारी तलवार अपना चमत्कार दिखाने लगी। मुग़ल-सेना के सिपाही कट-कट कर गिरने लगे। दुर्ग की खाईं लाशों से पट गयी। रात के दूसरे पहर के समय, युद्ध की गति धीमी पड़ गयी। चाँद बीबी ने इस अवसर से लाभ उठाकर विध्वंस प्राचीर के स्थान पर पाँच-छः फ़ीट ऊँची दीवार खड़ी करा दी। दूसरे दिन मुराद ने जब यह देखा, तब उसके होश उड़ गये। उसकी रसद भी घट गयी थी। इसलिए उसने चाँद बीबी से संधि की प्रार्थना की। चाँद बीबी के पास भी रसद नहीं थी। अतएव उसने बहादुरशाह की संरक्षिका की हैसियत से संधि-पत्र पर अपने हस्ताक्षर बना दिये। बरार-प्रदेश मुग़लों को मिल गया और मुराद अहमदनगर छोड़कर दिल्ली की ओर चला गया।

मुग़लों से प्रथम युद्ध

मुराद के चले जाने के पश्चात् मियाँ मंजू ने अपने बादशाह अहमद

शाह, को राज-सम्मान देने का प्रस्ताव किया। चाँद बीबी को यह बात पसन्द नहीं आयी। उसने नेहँग खाँ को चावन्द-दुर्ग की ओर भेजा, और बीजापुर के बादशाह, इब्राहिम आदिलशाह, से अहमदनगर का गृह-युद्ध समाप्त करने की प्रार्थना की। फलस्वरूप मियाँ मंजू बीजापुर चला गया। वहाँ उसे एक उच्च पद मिल गया। बहादुरशाह अहमदनगर का बादशाह बना दिया गया और मुहम्मद खाँ प्रधान मंत्री नियुक्त हुआ।

मुग़लों से द्वितीय युद्ध

मुहम्मद ख़ाँ चाँद बीबी का विश्वासपात्र था; परन्तु उच्च पद पाते ही उसने अपना रंग बदल दिया। उसने नेहँग ख़ाँ को क़ैद कर लिया। चाँद बीबी ने पुनः बीजापुर को लिखा। यह देखकर मुहम्मद ख़ाँ ने बरार के मुग़ल सेना-पति ख़ानख़ाना से सहायता की प्रार्थना की। दुर्ग के सैनिकों को जब यह बात मालूम हुई तब उन्होंने मुहम्मद ख़ाँ को क़ैद करके चाँद बीबी के सामने उपस्थित किया। चाँद बीबी ने उसे क्षमा कर दिया और नेहँग ख़ाँ को कारावास से मुक्त करके प्रधान मंत्री बनाया। थोड़े ही दिनों पश्चात् उसने भी विद्रोह किया और दुर्ग पर अधिकार जमाने की बड़ी चेष्टा की। चतुर चाँद बीबी ने उसका कोई प्रयत्न सफल न होने दिया। अन्त में उसने मुग़लों के अधिकृत बिद-राज्य पर अधिकार कर लिया। जब अकबर को यह मालूम हुआ तब उसने शाहजी, दानियाल और ख़ानख़ाना को नेहँग ख़ाँ के विरुद्ध युद्ध करने की आज्ञा दी। नेहँग ख़ाँ भयभीत होकर अहमदनगर आया और चाँद बीबी से सहायता की प्रार्थना की। चाँद बीबी ने ऐसे विश्वासघातक को सहायता देने से इन्कार कर दिया। विवश होकर नेहँग ख़ाँ जूनार की ओर भाग गया।

*नेहँग ख़ाँ के पलायन से मुग़ल-सेना को अवसर मिल गया। उसने अह-*मदनगर पर धावा किया। चाँद बीबी ने फिर रण-रङ्गिणी-मूर्ति धारण की। उसने हामिद ख़ाँ नाम के एक उच्च पदाधिकारी को बहादुरशाह की रक्षा के लिए प्रोत्साहित किया। वह तैयार तो हो गया; परन्तु अन्त में उसने विश्वासघात किया।

अन्तिम दर्शन

फलस्वरूप अहमदनगर की सेना चाँद बीबी के विरुद्ध हो गयी। वह दुर्ग के भीतर घुस गयी और चाँद बीबी की खोज में उन्मत्त होकर इधर-उधर उपद्रव करने लगी। चाँद बीबी ने अपनी मृत्यु निकट समझकर वीरतापूर्वक उसका सामना किया और हँसते-हँसते मृत्यु की गोद में सो गयी। इस प्रकार वीर बाला चांद बीबी की जीवन-लीला समाप्त हुई। उसकी मृत्यु ने अहमदनगर की स्वतन्त्रता का अन्त कर दिया। जब तक वह जीवित रही तब तक अहमदनगर में उसने किसी की दाल नहीं गलने दी।

चरित्र

चाँद बीबी बुद्धिमती थी, विदुषी थी। उसकी कोमल भुजाओं में असीम शक्ति थी। उसके हृदय में अद्भुत साहस था। वह निर्भीक थी, उसने कभी किसी के सामने झुकना नहीं सीखा। वह तूफ़ान से लड़ती रही, काँटों पर चलती रही, पहाड़ों से टक्कर लेती रही; परन्तु फिर भी उसने कभी आह नहीं की। उसका चरित्र निर्मल और उदार था। एक ओर वैधव्य जीवन, एक ओर रूप-राशि, इस पर अहमदनगर और बीजापुर का सम्पूर्ण वैभव। वह चाहती तो पलंग से उतरकर ज़मीन पर पैर तक न रखती; परन्तु उसने इन समस्त प्रलोभनों को पैर से ठुकरा दिया और अपना जीवन त्याग और तपस्या का बनाया। अहमदनगर में, बीजापुर में, समस्त दक्षिण में, वह देवी समझी जाने लगी। अब भी उसे लोग इसी तरह याद करते हैं।

मल्का नूरजहाँ

दिल्ली में विश्व-विख्यात अकबर का दरबार लगा हुआ था। उस दरबार में एक ओर जागीरदारों की पंक्ति थी, एक ओर मंत्री बैठे हुए थे, एक ओर सेना-पतियों का जमाव था; एक ओर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के सूबेदारों की भीड़ थी। सब के वस्त्र निराले, सब की शान अनोखी। कोई अपनी सुविधाओं की चरचा कर रहा था; कोई अपनी कठिनाइयों का चित्र खींच रहा था। अकबर सब की सुनता था और मंत्रियों से परामर्श करके उचित कार्य करने का आदेश दे रहा था। ऐसे समय में एक युवक ने प्रवेश किया। युवक के साथ उसकी स्त्री भी थी। स्त्री की गोद में एक नवजात बालिका थी। उन्हें देखकर सारा दरबार उनकी ओर आकर्षित हो गया। युवक दरबार की सभ्यता से परिचित था। उसने अकबर के प्रति अपना सम्मान प्रकट करते हुए कहा—

"बन्दा, जहाँपनाह की इमदाद चाहता है।"

अकबर आदमी पहचानता था। युवक की प्रार्थना पर उसने विचार किया और कहा—

"क्या चाहते हो?"

"कोई ख़िदमत का काम। मैं अजनबी हूँ। बहुत दूर से ख़ाक छानता हुआ आपकी ख़िदमत में इसीलिए हाज़िर हुआ हूँ।" युवक ने बड़े दीन भाव से उत्तर दिया।

अकबर ने उस युवक की ओर फिर देखा और एक पद पर नियुक्त कर दिया। उस युवक का नाम था ग्यास।

ग्यास के पिता का नाम ख़्वाजा मुहम्मद शरीफ़ था। वह तेहरान का रहने वाला था। अत्यन्त योग्य और कार्य-कुशल होने के कारण धीरे-धीरे

वंश-परिचय तथा जन्म-स्थान

उन्नति करके वह वहाँ का मंत्री हो गया था। जिस समय मुग़ल-वंश का द्वितीय बादशाह, हुमायूँ, दुर्दैव की प्रेरणा से भारत की बाग-डोर शेरशाह के हाथों में छोड़कर हरात की ओर पहुँचा, उस समय वह वहाँ का हाकिम था। उसने ऐसे संकट काल में हुमायूँ की बड़ी सहायता की थी और यथाशक्ति उसे सुख देने के लिए प्रयत्न किया था। वह बड़ा भाग्यशाली था, परन्तु उसका पुत्र मिर्ज़ा ग़यास-बेग उतना ही अभागा था। जब तक ख़्वाजा मुहम्मद शरीफ़ जीवित रहा, तब तक ग़यासबेग को किसी बात की चिन्ता नहीं थी; परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ही उसे जान के लाले पड़ गये। अपनी मातृ-भूमि में उसे अपना तथा अपनी पत्नी का पेट पालना दूभर हो गया। अन्त में विवश होकर एक दिन उसने सपरिवार एक क़ाफ़िले के साथ भारत की ओर प्रस्थान किया। कई दिनों तक मार्ग की कठिनाइयाँ झेलने के पश्चात् क़ाफ़िला कन्धार पहुँचा। यहीं सन् १५७६ ई० में प्रातःकाल के समय उसकी स्त्री की कोख से एक बालिका का जन्म हुआ।

दुर्दैव-पंक में फँसा हुआ ग़यास इस घटना से बड़े संकट में पड़ गया। क्या करे और क्या न करे, यह वह स्वयं निश्चय न कर सका। उसकी यह

मुग़ल-दरबार में आगमन

किंकर्तव्य विमूढ़ता देखकर क़ाफ़िले के एक सौदागर मलिक मसऊद को उस पर दया आ गयी। उसने धन से उसकी सहायता की और अपने साथ उसे भारत लेता आया। यहाँ अकबर के दरबार में उसका बहुत सम्मान था। अतः एक दिन उचित अवसर देखकर उसने ग़यास को अकबर के सामने पेश कर दिया और उसे नौकरी दिला दी।

इस प्रकार अपनी मातृ-भूमि त्याग कर ग़यास ने भारत में शरण ली। वह योग्य था, और फ़ारसी भाषा का बड़ा विद्वान था। वह कविता भी

बाल्यावस्था और शिक्षा

करता था। उसकी लेखन-शैली बहुत अच्छी थी। अकबर उसके इन गुणों पर मुग्ध था, और उसे बहुत मानता था। यही कारण था कि ग़यास की पत्नी भी

अन्तःपुर में बिना किसी रोक-टोक के आने-जाने लगी थी। उसकी गोद में एक बालिका थी। चांद-सी सुन्दर, गुलाब-सी कोमल। नाम था उसका मेहरुन्निसा। लोग उसे मेहर कहते थे। अन्तःपुर में वह भी खेलती थी, कभी अपनी मां की गोद में और कभी बेगमों की गोद में। उस फूल-सी बालिका को सभी प्यार करते थे, सभी चाहते थे। अन्तःपुर की वह खिलौना थी।

ग्यास की भांति उसकी पत्नी भी बड़ी गुणवती थी। वह बड़े कुलीनवंश की थी और राज-दरबार के शिष्टाचार से भलीभांति परिचित थी। इसलिए उसका भी अन्तःपुर में बड़ा सम्मान होने लगा। एक बेगम से उसका बहनापा भी हो गया और वह उन्हीं की भांति सज-धज से रहने लगी। ऐसे वातावरण में रहने के कारण उसने मेहरुन्निसा की शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध कर दिया और स्वयं उसे चित्र-कला तथा कसीदा काढ़ना सिखाने लगी। थोड़े ही दिनों में उसने उसे फ़ारसी भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त करा दिया।

मेहर बड़ी चंचल बालिका थी। वह रूपवती थी। राज-प्रासाद में रहने के कारण वह बड़े-बड़ों के हृदय तक पहुँच गयी थी। कुछ सयानी भी हो गयी थी। अकबर के पुत्र सलीम से भी उसका परिचय हो गया था। दोनों यौवन के प्रांगण में पदार्पण कर रहे थे। ऐसी दशा में उनका एक दूसरे के प्रति आकर्षित होना स्वाभाविक था। अकबर इस बात को अच्छी तरह जानता था; परन्तु वह इसे पसन्द नहीं करता था। वह नहीं चाहता था कि उसका पुत्र उसके एक कर्मचारी की पुत्री के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करे। इसी कारण से अकबर ने स्वयं उसके विवाह के लिए सुयोग्य वर की खोज की।

विवाह

इस समय राज-दरबार में अलीक़ुली इस्ताजलू के नाम की बड़ी चर्चा थी। वह फ़ारस का रहने वाला था। भारत में आने से पहले वह वहां के बादशाह द्वितीय शाह इस्माइल के यहां सफ़रची के पद पर कार्य कर चुका था। एक दिन ग्यास की भांति वह भी भटकता हुआ अपने पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए भारत में आया। मुलतान पहुँचने पर बैरमख़ां के पुत्र,

ख़ानख़ाना, से उसकी भेंट हो गयी। वह उसे अकबर के दरबार में लाया। उस समय राजकुमार, सलीम, मेवाड़ के राणा से युद्ध करने के लिए जा रहा था। अतः उसने उसे अपने निजी कार्य के लिए नौकर रख लिया। थोड़े ही दिनों में अलीक़ुली, सलीम का विश्वासपात्र हो गया। वह बड़ा योग्य, चतुर और वीर था। शिकार का उसे बड़ा शौक़ था। शेर का शिकार करने में वह बहुत प्रसिद्ध था। इसलिए सलीम उसे शेर अफ़गन कहा करता था और उसे बहुत मानता था। वह रूप में सुन्दर भी था। अकबर ने ऐसे ही वीर और सुन्दर पुरुष को मेहर के लिए उपयुक्त समझा। इसलिए सन् १५६५ ई० में उसने दोनों का विवाह करा दिया और अलीक़ुली को बर्दवान की जागीर देकर बंगाल भेज दिया।

मेहर अलीक़ुली को पाकर बड़ी प्रसन्न हुई। वह पति-परायणा थी और अपना कर्तव्य भलीभाँति समझती थी। इसलिए वह शीघ्र ही अपने पति के हृदय की सच्ची स्वामिनी बन गयी और दोनों एक प्रेम-सूत्र में बँधकर आनन्दपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करने लगे। इसी बीच सलीम ने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह किया। अलीक़ुली ख़ाँ ने यह कार्य अनुचित समझकर उसका साथ नहीं दिया। सलीम को यह बात बहुत बुरी मालूम हुई और उसने उसकी जागीर छीन ली; परन्तु अकबर की मृत्यु के पश्चात् जब सन् १६०५ ई० में वह जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ तब उसने पुनः उसकी जागीर उसे लौटा दी और वह बँगाल प्रान्त में भेज दिया गया।

इस समय बँगाल में चारों ओर उपद्रव के लक्षण दिखाई दे रहे थे। बड़े-बड़े सरदार अपनी खोई हुई शक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे।

विद्रोह और शेर अफ़गान की मृत्यु

इस प्रकार बँगाल विद्रोहियों का अड्डा बन गया था। ऐसे वातावरण में रहकर शेर अफ़गान भी बदनाम हो गया। उसके विरुद्ध, सम्राट जहाँगीर के दरबार में, शिकायत होने लगी। जहाँगीर कान का कच्चा था। इसलिए उसे शेर अफ़गन के विश्वास-घात पर बड़ा क्रोध आया। उसने तुरन्त शेर अफ़गन को दिल्ली-दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा निकाल दी।

उस समय कुतुबद्दीन राजा मानसिंह के स्थान पर बँगाल का गवर्नर नियुक्त हुआ था। उसमें न तो राजनीतिक बुद्धिमत्ता थी और न कार्यकुशलता ही। अतएव उसने बिना सोचे-समझे उसे गिरफ़ार करना चाहा। इस बात की सूचना पाते ही वीर शेर अफ़गन का ख़ून उबल पड़ा। क़ुतुबुद्दीन की सेना चारों ओर से उसका राज-भवन घेरे हुए पड़ी थी। ऐसी दशा में वह क्रोध में आकर बाहर निकला और नंगी तलवार लेकर क़ुतुबुद्दीन पर टूट पड़ा। क़ुतुबुद्दीन घायल हो गया और थोड़ी देर में उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इस दुर्घटना ने मुग़ल-सेना को उत्तेजित कर दिया। उसने अपने गवर्नर की मृत्यु का बदला लेने के लिए शेर अफ़गन को भी मौत के घाट उतार दिया।

शेर अफ़गन के वध से मेहरुन्निसा को बड़ा दुःख हुआ। विधि के विधान में किसी का बस नहीं चलता, यही सोचकर वह पुत्री सहित अपने पिता के घर आगरे लौट आयी, और अकबर की स्त्री सलीमा बेगम की देख-रेख में रहने लगी। एक दिन अकस्मात मीना बाज़ार में जहाँगीर से उसकी भेंट हो गयी। पुराना प्रेम फिर हरा हो गया। जहांगीर ने उससे विवाह का प्रस्ताव किया। इस समय शेर अफ़गन को मरे हुए चार वर्ष हो गये थे। पति-वियोग का दुःख इतने दिनों में हलका हो गया था। अतः उसने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। इस प्रकार मई सन् १६११ ई० में दोनों का विवाह हो गया। इस विवाह ने मुग़ल-इतिहास में एक नवीन अध्याय का सृजन किया। जहाँगीर मेहरुन्निसा को पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसके पिता और भाई को उच्च पद तथा जागीर देकर सम्मानित किया। इस प्रकार मेहरुन्निसा नूरमहल से नूरजहां हो गयी।

आगरे में आगमन और पुनर्विवाह

जिस समय नूरजहाँ का विवाह हुआ उस समय उसकी अवस्था ३५ वर्ष की थी। यह उसके यौवन के उतार का समय था; परन्तु वह अब भी सद्यः खिले हुए पुष्प के समान जान पड़ती थी। जैसी वह सुन्दरी थी, वैसी ही वह बुद्धिमती भी थी। उसमें उलझी हुई बातों को सुलझाने की अद्वितीय शक्ति थी। उस समय के

चरित्र और योग्यता

बड़े-बड़े यवन-राजनीतिज्ञ उसी राजनीति-पटुता का लोहा मानते थे और जिन राजनीतिक मामलों को सुलझाने में वह अपने आपको असमर्थ पाते थे उसके लिए उससे परामर्श लेते थे। कविता से उसे विशेष प्रेम था। वह स्वयं फ़ारसी भाषा में अत्यन्त सुन्दर कविता करती थी। उसका जीवन शृङ्गारमय था। उस समय नवीनतम फ़ैशन की वही जन्मदात्री थी। चित्रकारी में उसकी विशेष रुचि थी।

नूरजहाँ कोमल थी, सुकुमार थी, फिर भी वह शारीरिक बल में किसी पुरुष से कम नहीं थी। वह अपने पति के साथ प्रायः शिकार खेलने जाया करती थी। उसने कई बार शेर और चीतों का शिकार भी किया था। जहाँगीर उसकी वीरता से बहुत प्रसन्न रहा करता था। एक बार उसने प्रसन्न होकर उसे एक लाख रुपये की लागत का हाथों का आभूषण भेंट में दिया था, और एक हज़ार अशर्फियाँ अपने सेवकों में बाँटी थीं। वह दृढ़तापूर्वक प्रत्येक कार्य का सञ्चालन करती थी। वह युद्ध-कला में भी अत्यन्त कुशल थी। जिस समय वह हाथी पर बैठकर युद्ध-क्षेत्र में जाती थी, उस समय बड़े-बड़े योद्धा उसे रणचंडी समझकर नतमस्तक हो जाते थे। भारत के शासन में वह जहाँगीर को पर्याप्त योग देती थी। षड्यंत्र रचने में भी वह अत्यन्त निपुण थी।

नूरजहाँ बड़ी उदार महिला थी। वह पीड़ितों के दुःख का अनुभव करती थी और उन्हें यथाशक्ति सहायता देती थी। अनाथ मुसलिम-बालिकाओं के विवाह तथा असहाय स्त्रियों के जीवन-निर्वाह के लिए मुक्तहस्त होकर वह दान दिया करती थी। अपने परिवार और सम्बन्धियों की सहायता करने के लिए वह सदैव तत्पर रहती थी। उसी की कृपा से उसके पिता तथा भाई को राज्य में उच्च पद प्राप्त हुए थे। वह जहाँगीर से अत्यन्त प्रेम करती थी। यही कारण था कि जहाँगीर उसके हाथों का खिलौना हो गया था। वह प्रत्येक मामले में उससे सलाह लेता था और जो कुछ वह कहती थी वही करना अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता था। बड़े-बड़े सरदार और जागीरदार उसके इशारे पर नाचा करते थे। सच तो यह है कि वही सब कुछ थी। जहाँगीर केवल नाम मात्र का बादशाह था।'

मुग़ल-सम्राट् जहाँगीर का इस प्रकार स्त्रैण हो जाना बहुत से सरदारों को खटकता था। राज्य के प्रत्येक कार्य में नूरजहाँ का हस्तक्षेप वह सहन नहीं कर सकते थे। नूरजहाँ भी अपने यौवन, सौन्दर्य और राज-मद में चूर थी। कभी-कभी वह ऐसे कार्य कर बैठती थी जिससे उसके शत्रु और मित्र दोनों असंतुष्ट हो जाते थे। यही कारण था कि अन्तःपुर तथा दरबार में उसके विरुद्ध कुछ ऐसे लोग तैयार हो गये थे जो उसके प्रभाव का अन्त करना चाहते थे। महाबत ख़ाँ इस दल का मुखिया था। वह नूरजहाँ की सब चालें अच्छी तरह समझता था और सदैव उनसे सतर्क रहता था।

सरदारों पर प्रभाव

यह पहले लिखा जा चुका है कि नूरजहाँ की एक पुत्री शेर अफ़गन से थी। इसका विवाह जहाँगीर के द्वितीय पुत्र शहरयार से हुआ था। नूरजहाँ के भाई आसफ़जाह की पुत्री मुमताज़ महल का विवाह शाहजहाँ से हुआ था जो राज्य का उचित और योग्य उत्तराधिकारी था। नूरजहाँ चाहती थी कि उसका दामाद ही उसकी मृत्यु के पश्चात् राज्य का उत्तराधिकारी हो। इसलिए उसने शाहजहाँ के विरुद्ध जहाँगीर से ख़ूब शिकायत की और उसका मन उसकी ओर से फेर दिया। सन् १६२२ ई० में, जब जहाँगीर और नूरजहाँ दोनों काश्मीर में क़न्धार के बादशाह शाह अब्बास के विरुद्ध युद्ध की तैयारी कर रहे थे तब नूरजहाँ ने एक षड्यंत्र से काम लिया। उसने शाहजहाँ से क़न्धार पर आक्रमण करने के लिए कहा। शाहजहाँ दूरदर्शी था। वह नूरजहाँ की चाल समझ गया। इसलिए उसने क़न्धार जाने से साफ़ इन्कार कर दिया। जहाँगीर को यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। उसने शाहजहाँ को आज्ञा दी कि वह दक्षिण की सेना तथा वहाँ के कर्मचारियों को शीघ्र उसके हवाले कर दे। शाहजहाँ ने इस आज्ञा का भी उल्लंघन किया। अब जहाँगीर का संदेह दृढ़ हो गया। ऐसा सुअवसर पाकर नूरजहाँ ने धौलपुर की जागीर जिसे शाहजहाँ बहुत दिनों से अपने लिए चाहता था शहरयार को दिला दी और उसका पद बढ़ाकर क़न्धार-विजय के लिए

भीषण षड्यन्त्र

भेजवा दिया। इतने ही में क़न्धार हाथ से निकल गया। मुग़ल-सम्राट् को इस हानि से अत्यन्त दुःख हुआ; परन्तु वह विवश था। नूरजहाँ के आगे उसकी एक भी न चलती थी।

जहाँगीर के चार पुत्र थे। ख़ुसरू, शाहजहाँ, परवेज़ और शहरयार। सन् १६२२ ई० में शाहजहाँ ने ख़ुसरू को दक्षिण-भारत की ओर ले जाकर मरवा डाला, और उसके मृतक-शरीर को प्रयाग के एक बाग़ में दफ़ना दिया। आजकल इस बाग़ को ख़ुसरू-बाग़ कहते हैं। इस प्रकार एक काँटा दूर हो गया।

शाहजहाँ का विद्रोह

शाहजहाँ अपने पिता से इतना असंतुष्ट नहीं था जितना नूरजहाँ से। वह जानता था कि उसके बादशाह बनने में नूरजहाँ ही बाधक हो रही है। परवेज़ और शाहरयार उससे छोटे थे। उसके जीवित रहते शहरयार को गद्दी मिलना अन्याय था। यह विचार कर उसने विद्रोह कर दिया। नूरजहाँ पहले से ही सतर्क थी। विद्रोह की सूचना पाते ही उसने शाही सेना भेज दी। सन् १६२३ ई० में, दिल्ली से दक्षिण की ओर, बिलोचपुर में, प्रथम युद्ध हुआ। इसमें शाही-सेना की विजय हुई। इससे जहाँगीर बड़ा प्रसन्न हुआ। वह स्वयं अपने पुत्र की सेना से युद्ध करने के लिए अजमेर गया। यह समाचार पाते ही शाहजहाँ बहुत दिनों तक इधर-उधर सहायता के लिए घूमता रहा; परन्तु कहीं किसी ने उसे सहायता नहीं दी। अन्त में चारों ओर से निराश होकर मार्च सन् १६२६ ई० में उसने अपने पिता से क्षमा माँगली। नूरजहाँ ने इस अवसर से पूरा लाभ उठाया। उसने उससे असीरगढ़ और रोहतास का दुर्ग ले लिया। उसके दो पुत्र दारा तथा औरंगज़ेब भी उससे छीनकर दिल्ली के राज-भवन में रहने के लिए भेज दिये। इस प्रकार अपमानित होकर वह अपनी स्त्री और पुत्र मुराद के साथ नासिक चला गया।

शाहजहाँ को अच्छी तरह नीचा दिखाकर नूरजहाँ ने महाबत ख़ाँ और परवेज़ की शक्ति का भी अन्त करना चाहा। उसने महाबत ख़ाँ को बँगाल का गवर्नर बना दिया और सेना-पति के पद से हटा दिया। परवेज़

बुर्हानपुर में रहने के लिए भेज दिया गया। इतना ही नहीं, नूरजहाँ ने उस पर उत्कोच और अपहरण का अभियोग लगाकर उसे बहुत अपमानित किया। महाबत ख़ाँ बड़ा स्वामिभक्त था; परन्तु अपना तथा अपने दामाद का अपमान उससे सहन न हो सका। अन्त में उसने भी विद्रोह कर दिया।

महाबत ख़ाँ का विद्रोह

महाबत ख़ाँ बड़ा शक्तिशाली था। वह राजपूतों की एक सेना लेकर झेलम नदी के तट पर बादशाह से मिला और उसे बन्दी कर लिया। उस समय नूरजहाँ भी उसके साथ थी। बादशाह के बन्दी होने का समाचार पाकर वह निकल भागी। उसके साथ शहरयार भी गया। नदी पार करके नूरजहाँ ने बड़े-बड़े मुग़ल-सरदारों की एक सभा की और यह निश्चय किया कि महाबत ख़ाँ से युद्ध किया जाय। जहाँगीर इस विचार से सहमत नहीं था। वह महाबत ख़ाँ और राजपूतों की शक्ति को अच्छी तरह समझता था; परन्तु नूरजहाँ के आगे किसी की एक भी न चल सकी। वह स्वयं हाथी पर बैठकर और अपनी गोद में शरहयार की पुत्री को लेकर नदी पार करने के लिए आगे बढ़ी। यह देखकर राजपूतों की सेना ने तीरों की ऐसी घोर वर्षा की कि शाही सेना तितर-बितर हो गयी। ऐसी दशा में उसने आत्म-समर्पण कर दिया। वह पकड़ ली गयी, और अपने पति जहाँगीर के साथ बन्दी-गृह में रहने के लिए भेज दी गयी। आसफ़ ख़ाँ ने अटक की ओर भागना चाहा; परन्तु वह भी पकड़ा गया और बन्दी-गृह में भेज दिया गया। इस प्रकार महाबत ख़ाँ ने सब पर विजय प्राप्त की।

जहाँगीर और नूरजहाँ दोनों बन्दी-गृह में थे। यह उनके लिए बड़े संकट का समय था। जहाँगीर का स्वास्थ्य बिगड़ रहा था। शाहजहाँ पुनः उपद्रव करने का स्वप्न देख रहा था। महाबत ख़ाँ सब पर अपनी धाक जमाए हुए था। ऐसे अवसर पर नूरजहाँ ने बड़े धैर्य से काम लिया। वह बन्दी-गृह से मुक्त होने के लिए युक्ति सोचने लगी। अवसर पाकर एक दिन वह अपने पति के साथ भाग खड़ी हुई और आसफ़ ख़ाँ के साथ काश्मीर पहुँची। इसी समय शाहजहाँ ने

शाहजहाँ का पुनः विद्रोह

फिर विद्रोह कर दिया। उसने थाटा (सिन्ध) के दुर्ग पर आक्रमण कर दिया; परन्तु इस बार भी वह असफल रहा। अब वह दक्षिण की ओर चला गया। वहाँ महाबत ख़ां से उसकी भेंट हो गयी। इस समय वह भी बड़े संकट में था। नूरजहाँ ने बन्दी-गृह से मुक्त होने पर उसे ही शाहजहाँ के विरुद्ध थाटा की ओर भेजा था; परन्तु मार्ग में ही शाही सेना के सिपाहियों ने उसका सारा धन लूट लिया था। इसलिए वहाँ से भागकर वह दक्षिण की ओर चला आया था। इधर शाहजहाँ भी चारों ओर से निराश होकर थक गया था। अतः एक ही अवस्था में होने कारण दोनों में मित्रता हो गयी।

जहाँगीर की मृत्यु

बादशाह काशमीर में था। मद्य-पान की अधिकता के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। अतः उसने काशमीर से दिल्ली की ओर प्रस्थान किया। शिकार खेलने का उसे अब भी शौक़ था। इसलिए बैरमकुला (बहरमंगुला) में वह रुक गया। यहाँ शिकार खेलते समय अचानक एक सिपाही की मृत्यु हो गयी। इस मृत्यु से उसके हृदय पर बड़ी चोट लगी और उसका स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि बड़े-बड़े हकीमों की चिकित्सा विफल हो गयी। अन्त में २८ अक्टूबर सन् १६२७ ई० को वह इस संसार से चल बसा। उसका शव लाहौर के निकट दिलकुशा बाग़ में दफ़ना दिया गया।

शाहजहाँ का राज्याभिषेक

जहाँगीर की मृत्यु के पश्चात् नूरजहाँ की समस्त चेष्टाएँ विफल होने लगीं। आसफ़ ख़ाँ शाहजहाँ को बादशाह बनाना चाहता था। शाहजहाँ उसका दामाद था। नूरजहाँ शहरयार को चाहती थी। परवेज़ मर चुका था। इसलिए आसफ़ ख़ाँ ने अपने एक विश्वासपात्र द्वारा शाहजहाँ के पास बादशाह की मृत्यु की सूचना भेज दी। इधर नूरजहाँ शहरयार के लिए प्रयत्न करने लगी। शहरयार निकम्मा था। वह इन झगड़ों से दूर रहना चाहता था; परन्तु अपनी स्त्री तथा नूरजहाँ से वह विवश था। अंत में उनके कहने से उसने लाहौर में अपने आपको बादशाह घोषित कर दिया। यह देखकर आसफ़ ख़ाँ ने ख़ुसरू के पुत्र दावरबख़्श को बन्दी-गृह से निकालकर उसे बादशाह

घोषित कर दिया और शहरयार को परास्त करने के लिए स्वयं रवाना हुआ। लाहौर घेर लिया गया और शहरयार पकड़ कर अन्धा कर दिया गया। इतने में शाहजहाँ भी आ गया। उसने २४ जनवरी सन् १६२८ ई० को राजधानी में प्रवेश किया। आसफ़ खाँ को माँगी मुराद मिल गयी।

नूरजहाँ अपने प्रयत्न में असफल रही। जिसके लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया वह अन्धा बना कर मार डाला गया। इस घटना से उसका कोमल हृदय चूर-चूर हो गया। उसने सार्वजनिक कार्यों से सदैव के लिए अवकाश ग्रहण कर लिया और अपनी एकमात्र विधवा पुत्री के साथ लाहौर की ओर प्रस्थान किया। वहाँ उसके जीवन का अंतिम समय बड़े कष्ट से व्यतीत हुआ। जिसने इतने दिनों तक मुग़ल-साम्राज्य के बड़े-बड़े कर्मचारियों को अपनी अँगुली पर नचाया, जिसने अपने सौंदर्य से मुग़ल बादशाह जहाँगीर को परास्त किया उसने भी वह दिन देखे जब उसकी ओर से सब ने अपनी आँखें फेर लीं। कहाँ दिल्ली का वैभव, कहाँ लाहौर का एकान्त जीवन। ८ दिसम्बर सन् १६४५ ई० को उसका यह जीवन भी समाप्त हो गया। उसका शव जहाँगीर की क़ब्र के पास ही दफ़नाया गया। अनन्य प्रेम के दोनों पुजारी फिर एक हो गये।

अन्तिम जीवन

श्रीमती एनी बेसेण्ट

सन् १९२३ की बात है। काशी के विस्तृत टाउन हाल में एक विदेशी महिला का व्याख्यान हो रहा था। इस समय वह विषय याद नहीं आता; परन्तु इतना अवश्य याद है कि वह हज़ारों मनुष्यों के बीच में सिंहनी की तरह गरज रही थी। उसकी आवाज़ में शक्ति थी, उसकी भाषा में जान थी, उसकी शैली में जादू था, उसके व्यक्तित्व में आकर्षण था। सब उसी की ओर देख रहे थे, कोई अपनी जगह से हिल नहीं रहा था। वह वृद्ध महिला थीं एनी बेसेण्ट। उस समय वह काशी में रहती थीं। काशी ही में उनका मन लगता था।

एनी बेसेण्ट विदेशी महिला थीं; परन्तु भारतवर्ष को अपनी मातृ-भूमि समझती थीं। उनका जन्म पहली अक्तूबर सन् १८४० ई० को, लन्दन में हुआ था। बचपन में उन्हें लोग मिस वुड कहते थे। उनके पिता विलियम पेज वुड वहाँ के सुप्रसिद्ध डाक्टर थे। उनकी माता आयरलैंड की रहनेवाली थीं और प्रोटेस्टैन्ट धर्म में विश्वास करती थीं; परन्तु विवाह होने के पश्चात् उनके विचारों में बड़ा परिवर्तन हो गया था। विलियम पेज वुड डाक्टरी के अतिरिक्त गणित, दर्शन-शास्त्र, लेटिन, ग्रीक तथा अन्य कई प्राचीन तथा आधुनिक भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। पिता की इस योग्यता का मिस वुड के भावी जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह बाल्यावस्था से ही अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने में संलग्न हो गयीं और अपनी प्रखर बुद्धि का परिचय देने लगीं।

जन्म-स्थान और परिवार

मिस वुड ने अपनी प्रारम्भिक शिक्षा मिस मैरियट की संरक्षकता में प्राप्त की थी। मिस मैरियट शिक्षा के कार्य में बड़ी पटु थीं और प्रतिभा सम्पन्न बालिकाओं को अधिक प्रोत्साहन देती थीं। अतएव उन्होंने मिस वुड की शिक्षा में विशेष रूप से अपनी रुचि प्रकट की और थोड़े ही समय में उन्हें संगीत के अति-

शिक्षा

रेक्त सभी पाठ्य विषयों का अच्छा ज्ञान करा दिया। वह उन्हें अपने साथ फ्रांस और जर्मनी भी ले गयीं। वहाँ बालिका वुड ने फ्रेंच और जर्मन भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसका फल यह हुआ कि उनके विचारों में स्वतंत्रता और निर्भीकता आ गयी। यह मिस मैरियट की देन थी और इसके लिए वह आजीवन उनकी कृतज्ञ बनी रहीं।

सोलह वर्ष की आयु तक, मिस मैरियट के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने के पश्चात्, कुमारी वुड अपने घर लौट आयीं। यहाँ कुछ दिनों तक रहने के पश्चात्, सन् १८६६ ई० में, मिस्टर फ्रैंक बेसेण्ट से उनका परिचय हुआ। वह पादरी थे और लेफ़म के गिरजे में जाया करते थे। इस गिरजे से बालिका वुड को बड़ा प्रेम था। वह भी उनके साथ वहाँ जाने को तैयार हो गयीं। माता-पिता ने फ्रैंक बेसेण्ट की ओर उनकी विशेष रुचि देखकर दोनों का विवाह कर दिया। इस प्रकार वह मिस वुड से एनी बेसेण्ट हो गयीं।

विवाह

विवाह के दो वर्ष पश्चात्, जनवरी सन् १८६९ ई० में, श्रीमती बेसेण्ट के गर्भ से एक पुत्र, और एक पुत्री उत्पन्न हुई। सन्तान का मोह किसे नहीं होता! दाम्पत्य जीवन के सभी कष्ट इसी मोह में पड़कर प्रसन्नता-पूर्वक सहन किये जाते हैं। श्रीमती बेसेण्ट इन दोनों बच्चों को पाकर बड़ी प्रसन्न हुईं; परन्तु दुर्भाग्यवश, सन् १८७१ ई० में, दोनों बच्चे बहुत बीमार पड़े, और थोड़े ही समय में काल-कवलित होगये। दिन-रात सेवा-टहल में रहने के कारण वह भी बीमार पड़ गयीं और लगभग एक सप्ताह तक चारपाई पर पड़ी रहीं। इन सारी बातों का उनके मस्तिष्क पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसका फल यह हुआ कि ईसाई-धर्म से उनका विश्वास उठ गया और उन्होंने ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार करने से इन्कार कर दिया।

दाम्पत्य जीवन

दुःख की आँधी आने पर प्रत्येक प्राणी की यही दशा होती है। ऐसे ही समय में वह अपने धर्म, समाज, और सम्बन्धियों की परीक्षा करता है, और उनके असफल होने पर सब से विरक्त हो जाता है। वह समझने लगता है

कि जिस धर्म में उसने इतने वर्षों तक विश्वास किया, और उसके सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन बनाया, जब वही उसे सांसारिक दुःखों से मुक्त न कर सका, तब उसे मानने से लाभ ही क्या है। यही सोचकर वह नास्तिकता की ओर झुक जाता है, और ईश्वर की सत्ता से मुँह मोड़ लेता है। इस दृष्टि से श्रीमती बेसेण्ट के धार्मिक विचारोंमें जो परिवर्तन हुआ वह स्वाभाविक ही था। इसका परिणाम यह हुआ कि उन्होंने आँख मूँद कर ईसाई-धर्म में विश्वास करना त्याग दिया।

ईसाई-धर्म में अविश्वास

सौभाग्य से इसी समय मि० चार्ल्स वायर्स ने एक ईश्वरवादी संस्था स्थापित की। श्रीमती बेसेण्ट को इस संस्था ने बड़ी सान्त्वना प्रदान की। इसके सभी सदस्य स्वतंत्र विचार के थे। मि० बेसेण्ट को यह बात पसन्द नहीं आयी। वह इस समय सिब्सी में रहते थे और एक गिरजाघर के पुरोहित थे। पति की हैसियत से वह अपनी पत्नी पर अनुशासन रखना चाहते थे। श्रीमती बेसेण्ट स्वतंत्र विचार की महिला थीं। वह किसी ऐसे धर्म को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थीं जिस में उनका पूरा विश्वास न हो। फलस्वरूप उन्हें अपने विचारों के कारण अपने पति से प्रथक होना पड़ा। इस घटना से उनकी माता को इतना दुःख हुआ कि वह, १० मई सन् १८७४ ई० को, स्वर्ग-वासिनी हो गयीं।

माता की मृत्यु हो जाने से श्रीमती बेसेण्ट को आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उन्होंने मि० स्काट के पुस्तकालय में कुछ दिन काम किया, और लेख लिख कर कुछ धन प्राप्त किया। इससे उनका काम चल निकला। अब उन्हें आर्थिक कठिनाई तो नहीं; परन्तु धार्मिक विचारों के कारण उनकी स्थिति अब भी डावाँडोल थी। इसी समय चार्ल्स ब्रैडला ने एक स्वतंत्र-सम्प्रदाय की स्थापना की। इसमें सम्मिलित होकर उन्होंने समाचार-पत्र तथा भाषणों द्वारा इस संस्था की बहुत उन्नति की। सन् १८७७ ई० में नोल्टन पैम्फ़लेट निकालने के कारण उन पर हार्डिङ्ग गिफ़ार्ड ने मुक़द्दमा चलाया। इसके फल

स्वतंत्र जीवन

स्वरूप माल्थीसियन-संघ की स्थापना हुई और वह इसकी मंत्राणी नियुक्त हुईं। इस पद पर कुछ दिनों तक सफलतापूर्वक कार्य करने के पश्चात् सन् १८७८ ई० मे उन्होंने भारत के प्रश्न पर विचार करना आरंभ किया। उस समय भारत में लार्ड लिटन वाइसराय थे। श्रीमती बेसेण्ट ने उनके कार्यों की तीव्र शब्दों में आलोचना की। तब से अपनी मृत्यु तक वह भारत को स्वतंत्र करने में ही लगी रहीं।

थियोसोफ़िकल सोसाइटी में प्रवेश

श्रीमती बेसेण्ट विलक्षण बुद्धि की महिला थीं। सार्वजनिक कार्य में भाग लेने के साथ ही साथ वह अपनी ज्ञान-पिपासा को भी शान्त करने में लगी रहती थीं। वह विज्ञान से अनभिज्ञ थीं। इसलिए सन् १८७६ ई० में उन्होंने विज्ञान लेकर लंदन की मैट्रीकुलेशन परीक्षा पास की। उनका यह क्रम चलता ही रहा। यहाँ तक कि उन्होंने सन् १८८८ ई० में लंदन-विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० की परीक्षा पास कर ली। इसी बीच वह थियोसोफ़िकल सोसाइटी की जन्मदात्री तथा रूस की प्रसिद्ध दार्शनिक महिला मैडम ब्लावास्ट्स्की से प्रभावित होकर सन् १८८९ ई० में उनके सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गयीं। उन्होंने इस संस्था में इतने उत्साह से कार्य किया कि सन् १८९१ ई० में मैडम ब्लावास्ट्स्की की मृत्यु हो जाने पर वह थियोसोफ़िकल सोसाइटी की प्रमुख नेत्री बन गयीं। उन्होंने अपने भाषण तथा लेखों द्वारा इस सोसाइटी के सिद्धान्तों और उद्देश्यों का ख़ूब प्रचार किया। उन्होंने सब धर्मों की पुस्तकों का अच्छा अध्ययन किया और कई पुस्तकें भी लिखीं। सन् १८९३ में उन्होंने भारत को अपना कार्य-क्षेत्र चुना और मदरास में आकर रहने लगीं। अदयार का आश्रम उन्हीं की देन है।

भारत में सार्वजनिक कार्य

भारत में आकर श्रीमती बेसेण्ट ने लगातार पाँच वर्ष तक कठिन परिश्रम किया। उन्होंने हिन्दू-धर्म के प्राचीन ग्रंथों का गंभीर अध्ययन किया। इसका फल यह हुआ कि उनके हृदय से धर्म-सम्बन्धी बहुत से प्रमोत्पादक विचार निकल गये। उन्होंने भारत की आवश्यकताओं पर ध्यान दिया और विविध विषयों

पर भाषण देकर जनता का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया। उनके भाषणों में ओज था, भावों में राष्ट्रीयता और विचारो में मौलिकता थी। इसलिए देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक जागृति की एक लहर दौड़ गयी।

श्रीमती बेसेण्ट को भारत से केवल मौखिक सहानुभूति नहीं थी। वह अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत करके जनता को यह बताना चाहती थीं कि उनके कार्य का क्या स्वरूप होना चाहिए। इसी उद्देश्य को सामने रखकर उन्होंने सन् १८६६ ई० में सेण्ट्रल हिन्दू-कालेज की स्थापना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य स्थानों में भी स्कूल खोले और राष्ट्रीय शिक्षा का एक बोर्ड स्थापित किया। वह स्वयं विदुषी थीं और लन्दन में शिक्षा का कार्य कर चुकी थीं। इसलिए उन्हें किसी बात की कठिनाई नहीं हुई। जनता ने हृदय से उनकी योजनाओं का स्वागत किया, और धन से अच्छी सहायता की। थियोसोफ़िकल सोसाइटी की ओर से उनकी यह सेवाएँ इतनी अमूल्य सिद्ध हुईं कि सन् १६०७ ई० में कर्नल ऑलकाट की मृत्यु पर वही उक्त सोसाइटी की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं। इस पद पर तीन बार उनका निर्वाचन हुआ।

सन् १६१० ई० में वह जे० कृष्णमूर्ति तथा जे० नित्यानन्दम की अभिभाविका नियुक्त हुईं। दो वर्ष पश्चात् सन् १६१२ ई० में उक्त दोनों बालकों के माता-पिता ने श्रीमती बेसेण्ट पर मुक़दमा चलाया और सरकार से दोनों बालकों को लौटा देने की प्रार्थना की। मदरास हाईकोर्ट से मुक़दमा उनके विरुद्ध हो गया। इसके पश्चात् उन्होंने प्रीवी कौंसिल में अपील की। वहाँ से उनकी विजय हुई। तब से जे० कृष्णमूर्ति थियोसोफ़िकल सोसाइटी का कार्य कर रहे हैं। इस समय वह अध्यक्ष के पद पर सुशोभित हैं।

सन् १६१३ ई० में श्रीमती बेसेण्ट ने भारत के राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश किया। सन् १६१४ ई० में 'कामन वील' नाम का एक अँग्रेज़ी साप्ताहिक पत्र निकाला गया। इसके द्वारा सुशिक्षित जनता में राष्ट्रीय विचारों का अच्छा प्रचार हुआ। कुछ महीने पश्चात् 'मदरास स्टैंडर्ड', ख़रीद कर 'न्यू इंडिया' के नाम से

भारतीय राजनीति में प्रवेश

चलाया गया, जिसके फलस्वरूप सन् १६१६ ई० में 'होम-रूल-लीग' की स्थापना हुई। थोड़े ही दिनो में यह संस्था बहुत लोक-प्रिय हो गयी। इसने देश के कोने-कोने में राष्ट्रीयता तथा स्वराज्य का सन्देश पहुँचाया और प्रजा को सचेत किया। इन्हीं सब कारणों से बम्बई तथा मध्यप्रान्त की सरकारों ने सन् १६१६ ई० में उन पर प्रतिबन्ध लगा दिया और मदरास-सरकार ने उन्हें नज़रबन्द कर दिया। सरकार के इस घृणित कार्य का विरोध करने के लिए भारत के प्रत्येक प्रमुख नगर में सभाएँ हुईं जिनमें सरकारी कार्यों की ख़ूब निन्दा की गयी। इसका नतीजा यह हुआ कि अब तक जो लोग होम-रूल-लीग से प्रथक थे वह भी उसके प्रति सहानुभूति प्रकट करने लगे। सरकार ने यह देख कर उन्हें जेल से मुक्त कर दिया; परन्तु उनके लिखने और भाषण देने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इससे उनके स्वास्थ्य पर अधिक प्रभाव पड़ा। अतः वह ऊटकमंड में थियोसोफ़िकिल सोसाइटी की गुलिस्ताँ नामक कुटी में रहने लगीं। उनके इस देश-हित कार्य पर मुग्ध होकर जनता ने उन्हें सन् १६१७ ई० की कलकत्ता-कांग्रेस के सभापतित्व का गौरवपूर्ण पद पर आसीन किया। उन्होंने इस पद पर रहकर इतनी तत्परता एवं लगन से कार्य किया कि भारत- सरकार ने २० अगस्त सन् १६१७ ई० को उत्तरदायी शासन की घोषणा की।

माण्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड-सुधारों के पश्चात् श्रीमती बेसेण्ट ने भारत में औपनिवेशिक स्वराज्य स्थापित करने के सम्बन्ध में सन् १६२५ ई० में एक मसविदा तैयार किया। इस मसविदे को ब्रिटेन के श्रमजीवी-दल ने स्वीकार किया और साधारण-सभा में उसने उस आशय का एक बिल भी पेश किया; परन्तु प्रथम वाचन के पश्चात् ही वह बिल गिर गया। इस पर कांग्रेस ने देश में आन्दोलन करने के लिए असहयोग की नीति स्वीकार की। श्रीमती बेसेण्ट ने इस सिद्धान्त पर उससे अपना मतभेद प्रकट किया और वह कांग्रेस से पृथक हो गयीं। इसके बाद उन्होने अपना सारा समय थियोसोफ़ी के प्रचार में लगा दिया।

श्रीमती एनी बेसेण्ट उच्च विचार की महिला थीं। उन्होंने भारतीय

मर्यादा की रक्षा में तन, मन, धन से योग देकर भारतीय नर-नारियों के सामने ऐसा आदर्श उपस्थित किया जिसके लिए इस

चरित्र

देश को उनका सदैव ऋणी रहना पड़ेगा। वस्तुतः उनकी आत्मा महान थी। उन्होंने हिन्दू-धर्म का गंभीर अध्ययन किया था और उसके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। पाश्चात्य सभ्यता के रङ्ग में रङ्ग जाने से उन्होंने हिन्दुओं की केवल रक्षा ही नहीं की, अपितु उनके धर्म का ऐसा भव्य चित्र उनके सामने उतार कर रख दिया जिसने हिन्दुओं को अवनति के गर्त में गिरने से बचा लिया। भारतीय संस्कृति पर उनका अटूट विश्वास था। उन्होंने भारत की अकथनीय सेवा की थी।

श्रीमती एनी बेसेण्ट में विचित्र प्रतिभा थी। वह परम विदुषी, प्रवीण लेखिका, कुशल सम्पादिका और संसार प्रसिद्ध वक्ता थीं। यही नहीं, उनकी अध्यात्मिक शक्ति भी बढ़ी-चढ़ी थी। उन्होंने अनेक महत्त्व पूर्ण पुस्तकें लिखीं; तीन-तीन चार-चार पत्रों का सम्पादन किया, कतिपय संस्थाओं की संचालिका रहीं, और अन्त तक भारत-माता के श्री चरणों की सेवा करती रहीं। वस्तुतः वह एक लोकोत्तर विभूति थीं। कार्य करने की उनमें अद्भुत क्षमता थी। यही कारण था कि अन्त में उन्हें अस्वस्थ होकर २० सितम्बर सन् १९३३ ई० को मृत्यु की गोद में सोना पड़ा। वह पार्थिव रूप से सदैव के लिए भारत से उठ गयीं; परन्तु उनका यशः शरीर चिरजीवी है और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम में उनका नाम अमर है।

देवी सरोजनी नायडू

बीज गणित का एक प्रश्न था। सरल ही रहा होगा, परन्तु ग्यारह वर्ष की बालिका के लिए वह सचमुच अत्यन्त कठिन प्रश्न था। वह उसे बार-बार लगाती थी और उचित उत्तर न पाकर निराश हो जाती थी। अन्त में हार मानकर उसने उसे छोड़ दिया। उसी समय उसके हृदय में कविता के कुछ भाव उदय हुए। वह कविता करने बैठ गयी। थोड़ी देर में उसकी कविता तैयार हो गयी। गणिताचार्या की अपेक्षा वह कवयित्री आसानी से बन सकती थी। कविता करने में उसकी विशेष रुचि थी। वह भावुक थी, परिश्रमी थी, पढ़ने-लिखने में जी लगाती थी। पढ़ानेवाले कहते थे कि वह विदुषी होगी, कवयित्री होकर नाम पैदा करेगी; परन्तु उसे होना कुछ और ही था। वह कवयित्री बनी। काव्य ने उसके कोमल हृदय में राष्ट्रीय भावों को स्थान दिया। समय उपयुक्त था। उसके हृदय में छिपे हुए राष्ट्रीय भाव काम आ गये। एक दिन वह संसार के प्रलोभनों से मुक्त होकर उन पागलों की टोली में शामिल हो गयी जो भारत-माता के पैरों की बेड़ियाँ काटकर उसे स्वतंत्र करने का व्रत ले चुके थे। तब से अब तक वह उसी रूप में हमारे सामने है। उसका नाम है सरोजनी।

जन्म-स्थान और परिवार

देवी सरोजनी का जन्म १३ फ़रवरी सन् १८७९ ई० को हैदराबाद (दक्षिण) में हुआ था। उनके पिता डाक्टर अघोरनाथ चट्टोपाध्याय बहुत विद्या-व्यसनी और शिक्षा-प्रेमी थे। सन् १८७७ ई० में वह लन्दन गये और एडिनबरा-विश्वविद्यालय से विज्ञान की सर्वोच्च उपाधि लेकर भारत लौट आये। यहाँ आकर उन्होंने निज़ाम-कालेज की स्थापना की। वह आजीवन शिक्षा के क्षेत्र में उत्साहपूर्वक कार्य करते रहे। उन्होंने अपनी पुत्री देवी सरोजनी को अपनी देख-रेख में ही पढ़ाया-लिखाया था।

देवी सरोजनी बाल्यावस्था ही से कल्पना-जगत में विहार करने लग गयी थीं। उनकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उनके पिता उन्हें गणिताचार्या बनाना चाहते थे। इसलिए आरम्भ ही से उन्हें गणित में खूब अभ्यास कराया जाता था; परन्तु इसमें उनकी विशेष रुचि नहीं थी। कविता करने में उनका जी लगता था।

बाल्यावस्था, शिक्षा और विवाह

उनकी माता बँगाली भाषा में बड़े सुन्दर गीत लिखती थीं। पिता भी थोड़ी-बहुत कविता कर लेते थे। अतः कविता की ओर झुकना उनके लिए स्वाभाविक ही था। बारहवें वर्ष में उन्होंने मद्रास-विश्वविद्यालय से मैट्रिक परीक्षा पास की। उस समय उनमें कविता करने की शक्ति और भी बढ़ गयी थी। तेरहवें वर्ष में उन्होने १३०० पंक्तियों की एक कविता और २००० पंक्तियों का एक नाटक लिखा। इसके कुछ दिनों पश्चात् अकस्मात बीमार होने के कारण उनकी साधारण पढ़ाई छूट गयी; परन्तु फिर भी वह पढ़ती ही रहीं। नाटक की पुस्तक उन्होंने अपनी बीमारी ही में लिखी थी। अपने पिता की भाँति वह भी विद्या-व्यसनी थीं। हर समय कुछ-न-कुछ पढ़ा ही करती थीं। १४ से १६ वर्ष की आयु की अवधि में उन्होंने बड़ा परिश्रम किया। उनकी योग्यता और विद्या-प्रेम देखकर सन् १८९५ ई० में निज़ाम-सरकार ने उनको छात्रवृत्ति देकर इँगलैण्ड पढ़ने के लिए भेज दिया। उन्होंने इँगलैण्ड के किंग-कालेज में तीन वर्ष तक शिक्षा ग्रहण की। इसी बीच उन्होंने इटली की सैर की। इसके बाद सन् १८९८ ई० में वह भारत लौट आयीं। उसी वर्ष दिसम्बर मास में उनका अन्तर्जातीय विवाह डाक्टर गोविन्द राजूलू नायडू के साथ हुआ।

देवी सरोजिनी का गार्हस्थ्य जीवन अत्यन्त सुख से व्यतीत हुआ है। उनके चार सन्तानें—दो पुत्र तथा पुत्रियाँ—हैं। उनको समाज-सुधार से बहुत प्रेम है। आरम्भ ही से इस कार्य में उनकी विशेष रुचि रही है। उन्होंने अपने प्रयत्नों से परदा-प्रथा को बहुत कुछ दूर किया है और स्त्रियों के सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों के लिए बड़ी कोशिश की है। उनके प्रयत्न से

साहित्य-सेवा

भारतीय नारियों को अनेक सुविधाएँ मिली हैं। उनका राजनीतिक जीवन भी सामाजिक जीवन की भाँति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा है। इन सब कार्यों में व्यस्त रहने पर भी वह अँग्रेज़ी साहित्य का बराबर अध्ययन करती रही हैं।

देवी सरोजनी काव्य-प्रेमी हैं। वह स्वयं कवयित्री हैं और कल्पना-प्रधान कविता लिखती हैं। उनकी कविताओं में प्रेम का भी अच्छा पुट रहता है। उनके गीत (लिरिक) बड़े सुन्दर और चुटीले होते हैं। इसीलिए वह 'भारत की बुलबुल' कहलाती हैं। वह विदेश में भी कवयित्री की हैसियत से प्रसिद्ध हैं और उनकी कविताएँ बड़े चाव से पढ़ी जाती हैं। अब तक उनकी दो कविता-पुस्तकें (दि गोल्डेन थ्रेशहोल्ड और दि बर्ड आफ़ टाइम) प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके विचार प्रायः राष्ट्रीय होते हैं। उनके हृदय से निकला हुआ एक-एक शब्द पाठक के हृदय को आन्दोलित कर देता है। उनका यही राष्ट्रीय प्रेम जिस समय उचित और अनुकूल वातावरण पाकर अधिक बढ़ गया उस समय वह अपने व्यक्तित्व को राष्ट्रीय समस्याओं से पृथक न कर सकीं।

भाषण-शक्ति

देवी सरोजनी में भाषण देने की अद्भुत शक्ति है। बाल्यावस्था से ही इसका उन्होंने अभ्यास किया है। वह कई वर्षों तक सामाजिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में कार्य कर चुकी हैं। सार्वजनिक सभाओं में भाषण देने का उन्हें अच्छा अभ्यास है। वह जिस समय किसी सामाजिक अथवा राजनीतिक विषय पर हज़ारों पुरुषों के बीच में बोलने लगती हैं उस समय चारों-ओर सन्नाटा छा जाता है और लोग उनके व्याख्यान को देव-वाणी समझ कर सुनते हैं। उनके भाषणों में क्रान्ति की ज्वाला होती है, जो मुर्दों में भी जान डाल देती हैं। पहले प्रायः मदरास में ही उनके भाषण हुआ करते थे। वह स्त्रियों, विद्यार्थियों तथा सार्वजनिक सभाओं में बराबर बोला करती थीं। उन्होंने अपने भाषणों द्वारा दक्षिण में नई जान डाल दी थी। धीरे-धीरे वक्ता के रूप में उनकी ख्याति बढ़ने लगी। बम्बई में भी उनके कई भाषण हुए

और जनता उनकी मधुर एवं उत्कर्ष वाणी से बहुत प्रभावित हुई।

देवी सरोजनी की दृष्टि बड़ी सूक्ष्म है। वह प्रत्येक विचारणीय विषय की तह तक पहुँचने का प्रयत्न करती हैं। यही कारण है कि उनका हृदय और मस्तिष्क एक होकर बोलता है। उनमें नेताओं के परखने की शक्ति भी अद्वितीय है। एक बार जिस नेता के विषय में वह कोई बात निश्चय कर लेती हैं उसमें उन्हें पुनः परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस समय भारत में जितने नेता राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य कर रहे थे उनमें से वह फ़ीरोज़शाह मेहता, गोपालकृष्ण गोखले, बाल गंगाधर तिलक तथा महात्मा गाँधी से अधिक प्रभावित हुई थीं। उनके जोशीले भाषणों ने भारत के कोने-कोने में नव जागरण का संदेश पहुँचा दिया था। जो व्यक्ति उनके स्वदेशानुराग-भरे शब्दों को सुनता था वही उनकी ओर आकर्षित हो जाता था। यह देखकर वह उन्हीं में शामिल हो गयीं और तब से अब तक वह राष्ट्रीय क्षेत्र में बड़ी लगन और तपस्या से कार्य कर रही हैं। उन्होंने अपना शेष जीवन राष्ट्र सेवा ही में बिताने का संकल्प कर लिया है।

राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रवेश

देवी सरोजनी सर्वप्रथम सन् १९१६ ई० में लखनऊ की अखिल भारत वर्षीय कांग्रेस के इकतीसवें अधिवेशन में सम्मिलित हुई थीं। उस समय श्री अम्बिकाचरण मजूमदार राष्ट्रपति थे। स्वायत्त-शासन के प्रस्ताव पर लोगों के ज़ोरदार भाषण हो रहे थे। उन्होंने भी इसी विषय पर बड़ा महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली भाषण दिया। इस भाषण को सुनकर जनता मुग्ध हो गयी। सन् १९१७ ई० में उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया और जगह-जगह राजनीतिक विषयों पर प्रभावशाली भाषण दिया। मदरास में भी उनके कई महत्त्वपूर्ण व्याख्यान हुए। 'भावी आशा' पर उनका व्याख्यान अत्यन्त मर्मस्पर्शी था। उस समय वह हिंदू तथा मुसलमान दोनों धर्मों की संस्थाओं में स्वतंत्रतापूर्वक बोलती थीं और दोनों में एकता स्थापित करने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहा करती थीं। सन् १९१८ में मदरास-प्रान्तीय

भारत-भ्रमण

राजनीतिक सम्मेलन की आप अध्यक्षा मनोनीत हुईं। यह सम्मेलन काँजी-वरम में बड़े समारोह से सम्पन्न हुआ। इसके बाद उन्होंने फिर सारे देश का भ्रमण किया। उसी वर्ष दिसम्बर में वह अखिल भारतीय सामाजिक सेवा-संघ की अध्यक्षा चुनी गयीं। इस संघ की बैठक काँग्रेस के साथ दिल्ली में हुई थी।

योरप-यात्रा

सन् १९१९ में वह योरप चली गयीं। वहाँ जाकर जिनेवा में उन्होंने राष्ट्रीय-स्त्री-मताधिकार-परिषद में ओजस्वी भाषण दिया। इससे उन की ख्याति बहुत बढ़ गयी। सन् १९२० ई० में जब समस्त भारतवर्ष राष्ट्रीय विचार से अनुप्राणित हो रहा था; उस समय वह इँगलैण्ड में थीं। वहाँ उनका स्वास्थ्य इतना ख़राब हो गया था कि वह भारत आने के योग्य नहीं थीं। फिर भी वह भारत की आवाज़ को इँगलैण्ड के कोने-कोने में पहुँचाने का बराबर प्रयत्न करती रहती थीं। ख़िलाफत-आन्दोलन तथा पंजाब-हत्याकांड पर किंग्सवे-हाल में उन्होंने बड़े जोशीले भाषण दिए थे। इसका परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन परराष्ट्र-मन्त्री, मि० मारटेग्यू, तथा आपके बीच कुछ दिनों तक ख़ूब पत्र-व्यवहार होता रहा। उनमें निर्भीकता है। अपने सिद्धान्तों के लिए वह अपनी जान हथेली पर लिए रहती हैं। पंजाब-हत्याकांड से उनके कोमल हृदय पर इतनी कड़ी चोट लगी कि उन्होंने भारत-सरकार को क़ैसरे हिन्द का पदक लौटा दिया। इस घटना के कुछ महीने बाद ही वह भारत चली आयीं।

मद्रास-सरकार से छेड़-छाड़

सन् १९२२ ई० के आरम्भ में वह कांग्रेस की ओर से दक्षिण अफ़्रीका का दौरा करने के लिए भेजी गयीं। उसी वर्ष वह बम्बई कारपोरेशन की सदस्या और बम्बई-प्रान्तीय कांग्रेस-कमेटी की अध्यक्षा भी चुनी गयीं। मार्च के महीने में कालीकट में उनका भाषण हुआ। इस भाषण में उन्होंने मोपला की प्रजा पर किये गये अत्याचारों का ज़िक्र किया। मदरास की सरकार इस भाषण की सूचना पाकर चौकन्नी हो गयी। उसने उन पर असत्य बातों का प्रचार करने का दोष लगाया। इस प्रकार के दोषारोपण से उनका रक्त उबल पड़ा। उन्होंने

मदरास की तत्कालीन सरकार को इस मामले में बहुत नीचा दिखाया। इसी वर्ष ११ मार्च को महात्मा गांधी बन्दी कर लिये गये। उनकी गिरफ़्तारी से देवी सरोजनी के हृदय को बड़ा धक्का लगा। वह उस समय अस्वस्थ थीं परन्तु इसकी उन्होंने तनिक भी चिन्ता नहीं की। वह तुरन्त सारे देश का भ्रमण करने के लिए निकल पड़ीं और महात्मा जी के सिद्धान्तों के प्रचार में लग गयी। तभी से वह खद्दर भी पहनने लगीं। अक्टूबर के महीने में उन्होंने सीलोन (लंका) की यात्रा की और कोलम्बो में अपने प्रभावशाली भाषण से सबको चकित कर दिया। सन् १९२३ ई० में नागपुर में राष्ट्रीय झंडे की सम्मान-रक्षा के लिए जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तब उन्होंने मध्य प्रान्त का दौरा किया और लोगों के हृदय पर अपने व्यक्तित्व की छाप लगा दी।

सन् १९२५ ई० में वह कानपुर कांग्रेस की सभा-नेत्री चुनी गयीं। उस समय देश भर में साम्प्रदायिक दंगों का बाज़ार गरम था। उन्हें इन दंगो को शान्त करने में सफलता तो नहीं मिली; किन्तु उन्होंने एक वीराङ्गना की भांति प्रत्येक कठिनाई का साहसपूर्वक सामना किया।

कांग्रेस का नेतृत्व और विदेश-यात्रा

सन् १९२८ ई० के अन्त में वह संयुक्त राष्ट्र अमेरिका गयीं। वहाँ उन्होंने भारत की तत्कालीन समस्याओं का खूब प्रचार किया। इसके बाद वह अगस्त सन् १९२९ ई० में अफ्रीका गयीं। उसी वर्ष आप वहाँ की भारतीय कांग्रेस की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं। सन् १९३० ई० के नमक सत्याग्रह के आन्दोलन से महिलाओं को प्रथक करके महात्मा जी उनसे विदेशी वस्त्रों एवं शराब आदि की दूकानों पर धरना देने का कार्य लेना चाहते थे; परन्तु उन्होंने स्वतंत्रता-संग्राम में अपने आपको पुरुषों से कभी पीछे नहीं रखा। डाण्डी-यात्रा के पश्चात् जब महात्मा गाँधी गिरफ़्तार कर लिए गये तब वयोवृद्ध अब्बास तैयबजी ने सत्याग्रह-आन्दोलन के नेतृत्व का भार ग्रहण किया और उनके भी गिरफ़्तार होने के पश्चात् देवी सरोजनी ने उसका नेतृत्व स्वीकार किया। २१ मई सन् १९३० ई० को वह गिरफ्तार करके यरवदा-जेल में भेज दी गयीं। गाँधी-इर्विन-समझौते के पश्चात् जब

कांग्रेस ने गोल-मेज़-परिषद् में सम्मिलित होना निश्चय कर लिया तब गाँधी जी और मालवीय जी के साथ उन्हें भी द्वितीय गोल-मेज़-परिषद् में सम्मिलित होने का निमंत्रण मिला। वहाँ उन्होंने गाँधी जी का पूरी तरह से साथ दिया।

इँग्लैण्ड से लौटने पर सन् १९३१-३२ ई० के सत्याग्रह आन्दोलन में वह गिरफ़्तार कर ली गयीं; परन्तु जेल से छूटने पर वह फिर अपने राष्ट्रीय कार्य में लग गयीं। चुनाव के दिनों में उन्होंने सारे देश

अन्य राष्ट्रीय सेवाएँ

का भ्रमण किया और कांग्रेस के सिद्धान्तों का खूब प्रचार किया। चीन को भेजे गये कांग्रेस-सेवा-दल को विदाई देने के लिए ३० अगस्त सन् १९३८ ई० को बम्बई की सार्वजनिक सभा के प्रधान-पद को उन्होंने ही सुशोभित किया था।

देवी सरोजनी सन् १९२२ ई० से कांग्रेस की महासमिति की सदस्या हैं। स्वदेश के लिए उनके हृदय में अगाध प्रेम है। इस समय उनकी वृद्धावस्था ने आ घेरा है और शरीर भी प्रायः गिरा रहता है फिर भी उनमें नवयुवकों का-सा जोश और अदम्य उत्साह है। उनके भाषणों में अब भी वही सरगरमी, वही ज्वाला और वही जादू है जो प्रायः नवयुवकों के भाषणों में विद्यमान रहता है। वह अब भी कड़क कर बोलती हैं और निर्भीकतापूर्वक अपने विचार प्रकट करती हैं। भारतीय महिलाओं का कांग्रेस की कार्य समिति में प्रतिनिधित्व करने का गौरव उन्हीं को प्राप्त है। गांधी जी में उनकी अगाध श्रद्धा है। देश के भविष्य में उनका बहुत विश्वास है। सन् १९२० ई० से अब तक उन्होंने बड़ी लगन के साथ कांग्रेस का कार्य किया है। वह आत्म-बल में विश्वास करनेवाली हैं। स्वाभिमान की मात्रा उनमें बहुत अधिक है। भारत के नारी-जागरण में उनका बहुत हाथ रहा है। इस प्रकार उनका जीवन सर्वतोन्मुखी है। त्याग और तपस्या के बल पर देश-भक्ति और देश-सेवा का जो आदर्श उन्होंने नारी-समाज के समक्ष उपस्थित किया है वह निश्चय ही देशवासियों में आशा और उत्साह का संचार करता रहेगा।

देवी सरोजनी पहले माता हैं इसके बाद राष्ट्र-सेविका। राष्ट्र की सेवा करने में उन्होंने इसी भावना से प्रत्येक अवसर पर काम लिया है। जनता के दुःख से उनका हृदय जब पसीजता है तब वह उसी तरह दुखित होती हैं जिस प्रकार एक माता अपने बच्चे के दुख से दुखी होकर आंसू बहाती है। वह करुणा की मूर्ति हैं। वह अवतीर्ण हुई हैं भारत के नारी-समाज को जगाने के लिए और उनके हृदय में राष्ट्रीय भावना भरने के लिए। वह जहाँ जाती हैं भारत की संस्कृति और सभ्यता उनके साथ जाती है। वह आदर्श महिला हैं, आदर्श पत्नी हैं, आदर्श माता हैं। उनका जीवन त्याग और तपस्या का जीवन है। भारत का स्त्री-समाज उनका चिर ऋणी है।

गेतीआरा बेगम

आठवीं शताब्दी का अन्तिम चरण संसार के इतिहास में वह युग था जब शक्ति की पूजा होती थी। पुरुष योद्धा होते थे; स्त्रियाँ वीराङ्गनाएँ होती थीं। पुरुषों के साथ वह शिकार खेलती थीं, युद्ध-स्थल में अपनी तलवार का जौहर दिखाती थीं और अपने बुद्धि-बल तथा बाहु-बल का परिचय देती थीं।

उस समय एक बालिका थी। रंग गोरा, गोल चेहरा, बड़ी-बड़ी आँखों में अद्भुत तेज, मुख-मंडल पर चाँद-सी चमक, फूल-सा कोमल शरीर। हँसती थी तो फूल झड़ते थे; रुठ जाती थी तो मनाना कठिन हो जाता था। किसी के मनाने से न मानती थी। वह राजकुमारी थी। दरबार में आकर पुरुषों के साथ खेला करती थी। उनकी बातें सुनती थी। गुड़ियों से उसे घृणा थी। खिलौनों से उसे चिढ़ थी। वह भावुक थी। उसका नाम था गेतीआरा।

वंश-परिचय तथा जन्म-स्थान

गेतीआरा का जन्म सन् ७८० के लगभग ईरान के अन्तर्गत ज़ाबिलिस्तान प्रान्त में हुआ था। उसके पिता अलीमर्दां ख़ाँ उस प्रान्त के शासक थे। उनके कोई पुत्र न था इसलिए वह गेतीआरा बेगम पर विशेष रूप से स्नेह रखते थे। गेतीआरा भी अपने पिता से बहुत हिली मिली हुई थी। वह अधिकतर उन्हीं के साथ रहती थी और दरबार में खेला करती थी।

शिक्षा

अलीमर्दां ख़ाँ बड़े दूरदर्शी और बुद्धिमान थे। उन्हें अपनी प्यारी पुत्री की भावुकता और प्रतिभा का अच्छा परिचय मिल चुका था। वह समझते थे कि भविष्य में गेतीआरा अवश्य विश्व-विख्यात महिला होगी। इसलिए उन्होंने राज्य-कर्मचारियों की सम्मति से शिक्षाविशारदों को गेतीआरा की शिक्षा के लिए नियुक्त कर दिया। शिक्षकों ने उसे उसकी प्रकृति के अनुसार शिक्षा दी। प्रखर बुद्धि

तो थी ही, थोड़े ही दिनों में उसने अपनी मातृ-भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और चित्र-कला में भी निपुण हो गयी। उसके हाथ के बने हुए चित्र आज भी ईरान के कौतुकागार में दर्शकों को आश्चर्य-चकित कर देते हैं।

गेतीआरा बाल्यावस्था ही से बड़े-बड़े वीर पुरुषों के साथ रहा करती थी इसलिए उसके स्वभाव में मर्दानगी आ गयी थी। वह वीरों का-सा आचरण करती थी और प्रायः ऐसे खेल खेला करती थी जिनमें वीरता एवं साहस की अधिक आवश्यकता होती है। वह घोड़े पर चढ़ती थी और तलवार तथा बरछी चलाती थी। इस छोटी-सी अवस्था में उसका यह कौतुक देखकर बड़े-बड़े वीर दंग रह जाते थे।

स्त्री-सेना का संगठन

उसके पिता अपने समय के बड़े प्रसिद्ध योद्धा थे। अतः उन्हें भी अपनी पुत्री की अभिरुचि पर बड़ी प्रसन्नता होती थी। वह उसे बराबर प्रोत्साहित करते रहते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि केवल बारह वर्ष की अवस्था ही में वह युद्ध-कला में निपुण हो गयी। उस समय स्त्रियों को सैनिक-शिक्षा देने का नियम नहीं था। वह इस अभाव की पूर्ति करना चाहती थी। अतएव उसने अपने पिता से सम्मति लेकर ज़ाबिलिस्तान में कुमारियों को सैनिक-शिक्षा देने के अभिप्राय से एक शिक्षालय खोल दिया और यह आज्ञा निकलवा दी कि बीस वर्ष से लेकर २५ वर्ष तक अविवाहित स्त्रियाँ इस शिक्षालय में सैनिक-शिक्षा प्राप्त कर सकती हैं। इस आज्ञा ने ज़ाबिलिस्तान की समस्त अविवाहित स्त्रियों के लिए सैनिक-शिक्षा अनिवार्य कर दी। यह शाही हुक्म था इसलिए किसी व्यक्ति को उसकी उपेक्षा करने का साहस नहीं हुआ। फलतः लगभग ४००० युवतियों ने सैनिक-शिक्षालय में प्रवेश किया। युद्ध-कला-विशारद उन्हें सैनिक-शिक्षा देने लगे। थोड़े ही दिनों में स्त्रियों की एक अच्छी सेना तैयार हो गयी। हाथी, घोड़े और ऊँट ख़रीदे गये। यद्यपि अलीमर्दां ख़ाँ को यह विश्वास था कि स्त्रियाँ पुरुषों से समर-क्षेत्र में कभी बाज़ी नहीं मार सकतीं, तथापि वह अपनी पुत्री पर इतना स्नेह रखते थे कि

उन्होंने उसे प्रसन्न करने के लिए युद्ध की जितनी सामग्री उस समय उपलब्ध हो सकती थी ख़रीदी और अपने कोष का आधे से अधिक धन इस कार्य में व्यय कर दिया।

गेतीआरा को अब किसी बात की कमी नहीं रही। वह बड़ी तत्परता से स्त्री-सेना का संगठन करने लगी। वह स्वयं अपनी सेना का निरीक्षण करती थी और अपने ओजस्वी भाषण द्वारा स्त्रियों के हृदय में वीर-रस का संचार करती थी। जिस समय वह अस्त्र-शस्त्र धारण करके घोड़े पर सवार होती थी और रण-चण्डी के समान स्त्री-सेना के बीच में खड़ी हो जाती थी; उस समय वीर-रस का स्रोत उमड़ पड़ता था और कायर स्त्री-पुरुषों के हृदय में भी एक बार तलवार उठाने की हिम्मत पैदा हो जाती थी। यही कारण था कि अब तक जो स्त्रियाँ सेना में भरती होने से हिचक रही थीं वह भी शिक्षालय में भरती हो गयीं। इस प्रकार स्त्री-सैनिकों की संख्या पहले की अपेक्षा तीन गुनी हो गयी। अपनी आशा-लता को इस प्रकार फलते-फूलते देखकर गेती-आरा को बड़ी प्रसन्नता होती थी। उसे अपनी सेना पर बड़ा गर्व था। वह समझती थी कि समय आने पर उसकी सेना पुरुषों से कभी पीछे नहीं रहेगी।

इस प्रकार गेतीआरा का जीवन स्त्री-सेना की देख-रेख में व्यतीत हो रहा था। वह सोचती थी कि एक दिन वह सेना-नेत्री अवश्य बनेगी और पुरुषों को दिखा देगी कि स्त्रियाँ अबला नहीं, वरन् सबला हैं। उनमें भी पुरुषों की भाँति जोश है, मर्दानगी है। दैव-योग से वह समय भी आ गया। तरुणावस्था में पदार्पण करते ही उसके पिता का स्वर्गवास हो गया। इस घटना से उसे बहुत दुःख हुआ। जीवन के प्रभात काल ही में वह पिता के स्नेह से वञ्चित हो गयी। ऐसे कुसमय में राज्य के कर्मचारी भी उसके विरुद्ध हो गये और अपना हाथ-पैर फैलाने लगे। उसका चाचा ज़ाबिलिस्तान के राजसिंहासन पर बिठा दिया गया। यही गेतीआरा की परीक्षा का समय था।

राजसिंहासन के लिए युद्ध

गेतीआरा बड़े शान्त-स्वभाव की थी। वह युद्ध करके अपनी प्रजा का रक्त बहाना नहीं चाहती थी। अतएव उसने प्रधान मंत्री के पास एक पत्र

लिखकर अपने अधिकार की मांग पेश की; परन्तु समाज ने उसे स्त्री समझ कर उसकी माँग को ठुकरा दिया। इससे उसके हृदय को बड़ी ठेस लगी। क्रोध से उसकी आँखें लाल हो गयीं। वह तुरन्त हाथ में तलवार लेकर निकल पड़ी और अपनी सेना में पहुँची। वहाँ उसने अपने स्त्री-सैनिकों को एक ओजस्वी भाषण द्वारा युद्ध के लिए उत्तेजित किया। सेना में हलचल मच गयी और बड़े उत्साह से युद्ध की तैयारियां होने लगीं।

गेतीआरा बेगम सेना-नेत्री बनी। उसने अपनी सेना को पांच भागों में विभाजित किया। प्रत्येक भाग में चुनी हुई पांच सौ वीराङ्गनाएँ रक्खी गयीं और उन पर एक एक शासिका नियुक्त की गयी। दो भाग राज्य-कोष पर अधिकार जमाने के लिए भेजे गये। शेष तीन भागों से राजधानी घेर ली गयी। इस प्रकार संसार के इतिहास में इस नये युद्ध का सूत्रपात्र हुआ। यह युद्ध अपने ढग का निराला था। एक ओर स्त्रियों की सेना थी, दूसरी ओर पुरुष वीर वेष में खड़े थे। दोनों ओर से वीर-रस उमड़ा पड़ता था।

गेतीआरा का समय आधुनिक सभ्यता का प्रभात-काल था। उस समय समस्त संसार का पुरुष-समाज स्त्रियों की ओर उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। वह समझता था कि स्त्रियां अबला हैं, अज्ञानता की मूर्ति हैं, अदूरदर्शिता की प्रतीक हैं; इसलिए उन्हें पुरुषों की सेवा करनी चाहिए और गृह-कार्य में ही व्यस्त रहना चाहिए। वह घर की चहारदीवारियों के भीतर बन्द रहें और बच्चों का पालन-पोषण करती रहें; इतना ही उनके लिए पर्याप्त है। राज्य के शासन में भाग लेना, समाज के कार्य-कलाप में हस्तक्षेप करना, पुरुषों के सामने मुँह खोलकर बैठना और उनकी योग्यता पर सन्देह करना स्त्रियों का कर्त्तव्य नहीं है। परमात्मा ने उन्हें पुरुषों के लिए ही बनाया है, अतएव वह पुरुष-समाज की सेविका बनकर अपना जीवन व्यतीत कर सकती हैं। गेतीआरा ने ऐसी दशा में पुरुष-समाज को अपनी योग्यता, राजनीति-पटुता और युद्ध-कला प्रदर्शित करने का खुला चैलेंज दिया।

पुरुष-समाज गेतीआरा के इस चैलेंज से तिलमिला उठा। उसने स्त्रियों की अनाधिकार चेष्टा का उत्तर युद्ध स्वीकार करके दिया। राजकुमारी ने

तुरन्त दुर्ग के नीचे पहुँचकर कमन्द लगायी और दीवार पर चढ़ गयी। यह दशा देखकर पुरुष-सैनिक अपने हाथ में तलवार लेकर बाहर निकल आये। स्त्री और पुरुषों में भीषण युद्ध छिड़ गया। जो समाज स्त्रियों पर हाथ उठाना पाप समझता था वही आज स्वार्थ के वशीभूत होकर उन पर अपने वीरता की परीक्षा कर रहा था। स्त्रियाँ भी अपने हाथ का जौहर दिखा रही थीं। उनकी वीरता और युद्ध-कला देखकर पुरुष हैरान थे। उनकी बुद्धि काम नहीं करती थी। स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा संख्या में कम थीं। उन्होंने कभी इस प्रकार युद्ध नहीं किया था; परन्तु गेतीआरा ने उनमें ऐसी बिजली भर दी थी कि वह युद्ध से मुँह मोड़ना जानती ही न थीं। लाशों पर लाशें गिर रही थीं, और समर-भूमि में रक्त की नदी बह रही थी; फिर भी वह निर्भीक थीं। वह अपनी तलवार के एक-एक वार से कई पुरुषों के सिर उड़ा रही थीं। ऐसे ही समय में उनकी दो पंक्तियाँ और आ गयीं। उत्साह-हीन स्त्रियों में नयी जान आ गयी। उन्होंने अब दूने जोश से मार-काट शुरू कर दी। पुरुषों ने उनकी पंक्ति तोड़ने की चेष्टा की; परन्तु उनकी एक न चली। अन्त में तीन घण्टे के भीषण रक्त-पात के पश्चात् पुरुषों के पैर उखड़ गये। वह भाग खड़े हुए। स्त्रियों ने उनका पीछा किया और बहुतों को सदैव के लिए मृत्यु की गोद में सुला दिया। इस युद्ध में लगभग तेरह सौ स्त्रियाँ काम आयीं। बहुत-से पुरुष भी मारे गये। इस प्रकार इस युद्ध का अन्त हुआ। विजय-पताका स्त्रियों के हाथ रही।

युद्ध समाप्त होने के पश्चात् दूसरे दिन गेतीआरा राजसिंहासन पर बैठी। उसने विश्वासघातकों को अपने सामने बुलाया और उन्हें अच्छी तरह लज्जित किया। अन्त में उन्होंने क्षमा-याचना की। गेतीआरा बड़ी उदार थी। उसने शुद्ध हृदय से सब को क्षमा कर दिया। इसके पश्चात् उसने अपनी प्रजा की ओर ध्यान दिया। वह बड़ी क्षमाशील और दयावान थी। दीन प्रजा के लिए उसके दुर्ग का द्वार सदैव खुला रहता था। वह शासन के प्रत्येक अंग का स्वयं निरीक्षण करती थी, और अपने मंत्रियों को उचित आदेश देती थी। बाहर

ज़ाबिलिस्तान पर शासन

से आनेवाले अतिथियों के लिए उसने विशेष प्रबंध किया था। कोष पर उसी का अधिकार था। वह उसे जिस प्रकार चाहती थी, व्यय करती थी। उसके यहाँ पुरुष और स्त्री-सेना दुर्ग की रक्षा के लिए सदैव तैयार रहती थी। स्त्रियों को विशेष सुविधाएँ प्राप्त थीं। जिन स्त्रियों ने उसके साथ अपना रक्त पानी की तरह बहाया था, उन्हें उसने अच्छे पद दे दिये थे और वह आनन्द से अपना जीवन व्यतीत कर रही थीं। प्रजा उसके सुशासन पर मुग्ध थी और शान्तिपूर्वक रहती थी।

इस प्रकार कुछ दिनों तक गेतीआरा ने सफलता-पूर्वक शासन किया। कालान्तर में क़राँ के बादशाह ने उससे विवाह की इच्छा प्रकट की। वह उसके सौंदर्य और वीरता के विषय में बहुत-सी बातें सुन चुका था और हृदय से उसे अपनाने के लिए इच्छुक था। इसलिए जब गेतीआरा के दरबार में उसका राजदूत पत्र लेकर उपस्थित हुआ तब उसने अपने सहेलियों तथा मन्त्रियों से परामर्श करके विवाह की अनुमति दे दी; परन्तु उनके सामने कुछ ऐसी शर्तें रख दीं जिनका पालन करना उनके लिए आवश्यक था। मीराँशाह ने उसकी शर्तों को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस प्रकार समरक़न्द में दोनों का विवाह बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ।

विवाह

विवाह होने के पश्चात् गेतीआरा बेगम ख़ाविलिस्तान छोड़कर अपने पति के पास चली गयी। वह अपनी स्त्री-सेना भी अपने साथ लेती गयी। वहाँ भी उसने स्त्रियों को विशेष सुविधाएँ दीं और उन्हें उच्च पद पर नियुक्त किया। कुछ दिनों के पश्चात् उसके गर्भ से एक पुत्र-रत्न हुआ जो ईरान के इतिहास में मुहम्मद मिर्ज़ा के नाम से प्रसिद्ध है।

गेतीआरा बेगम गार्हस्थ्य जीवन का सुख अधिक दिनों तक न भोग सकी। २७ वर्ष की अवस्था में उसे एक ऐसे भयानक रोग ने पकड़ लिया जिससे छुटकारा पाना उसके लिए कठिन हो गया। अन्त में वह उसी रोग से काल कवलित हो गयी। उसका मृतक शरीर उसकी इच्छानुसार ख़ाविलिस्तान में दफ़ना दिया

मृत्यु

गया। इस प्रकार वीराङ्गना गेतीआरा बेगम ने स्त्रियों की सच्ची प्रतिनिधि बनकर उनके स्वत्वों और अधिकारों की रक्षा करते हुए अपना जीवन समाप्त किया। ईरान का स्त्री-समुदाय आज भी उस पर गर्व करता है, और उसकी समाधि पर श्रद्धा और प्रेम के पुष्प चढ़ाता है।

वीराङ्गना देवी जोन

साधारण किसान की एक साधारण बालिका। बड़ी चपल, बड़ी सुन्दर, मुख-मंडल पर दैवी ज्योति; आँखों में विचित्र आकर्षण, शरीर में स्वभाविक शक्ति। वह प्रति दिन ठीक समय पर गिर्जे में जाती थी और घंटों प्रार्थना में लीन रहती थी। किसके लिए प्रार्थना करती थी, क्यों प्रार्थना करती थी, किस से प्रार्थना करती थी, उस समय कोई नहीं जानता था और न जानने की किसी को चिन्ता ही थी। एक दिन, दो दिन, कई दिन, कई महीने और कई वर्ष बीत गये। उसका गिर्जाघर में प्रार्थना करना न छूटा। यह देख कर किसी ने कहा—यह देवी है; किसी ने कहा—यह पागल है; किसी ने कहा—उसे भूत लग गया है, वह चुड़ैल है, पिशाचिनी है। परन्तु उसने किसी के कहने की चिन्ता नहीं की। उसे विश्वास था अपने धर्म में, अपने धर्म-गुरु के उपदेश में, अपनी शक्ति में और अपने जीवन के उद्देश्य में।

वह किसी का भरोसा नहीं करती थी। किसी के सहारे नहीं खड़ी थी। उसका विश्वास उसे आगे बढ़ा रहा था और वह तुल गयी थी फ्रांस को, फ्रांस के राज-घराने को, फ्रांस की प्रजा को अँगरेज़ों की दासता से मुक्त करने पर। इस उद्देश्य की पूर्ति में उसने किसी की न सुनी। पिता-माता, बन्धु, सब का उसने सहर्ष त्याग किया और निकल पड़ी अपने उद्देश्य-साधन में। अद्भुत था उस बालिका का त्याग! आश्चर्यजनक थी उसकी साधना! विचित्र थी उसकी तपस्या! अनोखा था उसका देशानुराग!

कहाँ एक साधारण किसान की पुत्री! कहाँ अँगरेज़ों की अपार सेना-शक्ति! कोई तुलना नहीं हो सकती। इस पर फ्रांस की स्वतंत्रता का प्रश्न! जनता उस बालिका को पागल न समझती, तो क्या समझती। उसका उद्देश्य ही ऐसा था। उसका लक्ष्य ही विचित्र था। परन्तु एक दिन उसका स्वप्न सत्य हुआ। संसार ने देखा कि वह पागल नहीं, देवी है। आज वह देवी केवल फ़्रांस में ही नहीं, संसार में देवी जोन के नाम से पूजी जाती है।

फ्रांस के उत्तर में म्यूज़ नदी बहती है। इसके किनारे दोरेमी नाम का एक गाँव है। इसी गांव के एक साधारण परिवार में देवी जोन ने सन् १४१० ई० में जन्म लिया। उसके पिता का नाम ज़ाके-द-आर्क, और माता का नाम इसाबेला था। जोन की एक बहिन थी। उसका नाम कैथरिन था। उसके तीन भाई भी थे। एक का नाम था ज़ाके, दूसरे का नाम था ज्ञों तीसरे का नाम था पियर।

जन्म स्थान तथा वंश-परिचय

जोन के पिता खेती-बारी का काम करते थे। उन्हें उच्च शिक्षा नहीं मिली थी; परन्तु लोगों की दृष्टि में वह एक धार्मिक व्यक्ति थे। जोन की माता भी अत्यन्त धर्म-परायण थीं। इसलिए जोन के विचारों पर माता-पिता की धार्मिकता का अधिक प्रभाव पड़ा था।

उस समय दोरेमी में कोई विद्यालय नहीं था। जोन पढ़ना चाहती थी। इसलिए उसकी माता ने उसे घर पर ही कुछ धार्मिक गीत तथा कथाएँ याद करा दी थीं। यही उसकी शिक्षा थी। धर्म के प्रति उसके हृदय में अत्यन्त अनुराग था। वह अपने गांव के निकट-वर्ती गिर्जे में प्रति दिन जाती थी और अपने इष्ट देवता के नाम पर मोमबत्ती जलाया करती थी।

शिक्षा तथा धर्म-विश्वास

जोन परियों की कहानियाँ बहुत सुनती थी। उस समय उसके गांव में इस प्रकार की कहानियों का बहुत चलन था। बहुतों का तो यह विश्वास था कि परियां उस समय भी उनके गांव में आती थीं। इसलिए एक पेड़ का नाम ही 'परियों का पेड़' रख दिया गया था। इन सब बातों का जोन के जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वह बाल्यावस्था ही से ऐसी अनेक बातों में विश्वास करने लगी थी जो इस समय हास्यास्पद समझी जाती हैं।

जिस प्रकार बालिका जोन अपने धार्मिक वातावरण से प्रभावित हुई थी उसी प्रकार उस के गाँव की राजनीतिक परिस्थिति ने भी उस पर अपना प्रभाव डाला था। उसके समय में फ्रांस तीन भागों में विभाजित था। उत्तर का समस्त प्रदेश बर्गण्डी के ड्यूक तथा अँगरेज़ों के अधीन था। शेष भाग पर फ्रांस के तत्कालीन

फ्रांस की राज-नीतिक परिस्थिति

बादशाह चार्ल्स तथा उसके भाई ड्यूक ऑफ़ ऑर्लेंस का शासन था। सन् १४२१ ई० में चार्ल्स की मृत्यु के पश्चात् फ्रांस के तीन दावेदार उत्पन्न हो गये थे। नियमानुसार दोफ़ाँ चार्ल्स फ्रांस का युवराज था; परन्तु आपस की शत्रुता के कारण उसका पक्ष निर्बल हो गया था। इङ्गलैण्ड का बादशाह हेनरी षष्टम नाबालिग़ था। उसकी ओर से ड्यूक ऑफ़ बैडफ़ोर्ड फ्रांस का उत्तराधिकारी था। तीसरा दावेदार बर्गण्डी का ड्यूक फ़िलिप था।

जोन का गाँव दोंरेमा दोफ़ाँ के पक्ष में था। दोंरेमा के चारों ओर छोटे-छोटे ज़मींदार थे। वह आपस में लड़ते रहते थे। इस लड़ाई-झगड़े के कारण उनके घरों में आग लगा दी जाती थी; खेत जला दिये जाते थे, और स्त्री-पुरुष तथा बच्चे मार डाले जाते थे। जोन इन सब अमानुषिक दृश्यों को अपनी आँखों से देखती थी और लोगों को प्रायः यह कहते हुए सुनती थी कि बिना दोफ़ां के बादशाह बने दोंरेमी का उद्धार होना असम्भव है। जोन अपने कानों से इन बातों को सुनती थी और उनपर विचार करती थी। उसका भी विश्वास था कि दोफ़ां ही फ्रांस को इन अत्याचारों से मुक्त कर सकता है। इसलिए उसने दोफ़ां (राजकुमार) को फ्रांस का बादशाह बनाने का दृढ़ संकल्प कर लिया।

जोन दृढ़ प्रतिज्ञ थी। एक बार जिस बात को पूरा करने का वह विचार कर लेती थी उस पर अटल रहती थी। वह प्रत्येक समय दोफ़ाँ के विषय में ही सोचती थी और उन्हीं के लिए गिर्जे में ईश्वर से प्रार्थना करती थी। एक दिन ईश्वर ने उसकी प्रार्थना सुनली। प्रातःकाल का समय था। गिर्जाघर में सन्नाटा छाया हुआ था। जोन सर झुकाये हुए दोफ़ाँ के लिए प्रार्थना कर रही थी। वह भूली हुई थी अपने आपको, अपने परिवार को, अपने संसार को। उसके सामने एक अलौकिक ज्योति थी। उस ज्योति ने उसे अचेत कर दिया। वह बेसुध हो गई। उसी अवस्था में उसे देववाणी सुनाई दी।

दैवी प्रेरणा का चमत्कार

पहले तो उसने उस देव-वाणी की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया; परन्तु

जब दूसरी बार उसे पुनः देव-वाणी हुई तब वह सचेत हो गयी । इस बार उसने किसी अज्ञात पुरुष से सुना—"मुझे ईश्वर ने तुम्हारे पास इसलिए भेजा है कि मैं तुम्हें पवित्र जीवन व्यतीत करने में सहायता प्रदान करूँ । जोन ! तुम भली बनो । परमात्मा तुम्हारी सहायता करेगा" । उसने तीसरी बार भी ऐसे ही शब्द सुने । इस बार उसने शब्द करनेवाले को पहचान भी लिया । वह सन्त मीशैल था । इस सन्त के विषय में उसने अपने बचपन में बहुत-सी दन्त-कथाएँ भी सुनी थीं और उसकी प्रस्तर मूर्तियाँ भी यत्र-तत्र देखी थीं ।

जोन को तीन बार देव-वाणी हुई । तीसरी देव-वाणी ने उसके रोम-रोम में बिजली भर दी । उसे अपनी शक्ति का, अपने साहस का, अपने व्रत का विश्वास होगया । वह अनुभव करने लगी कि फ्रांस को विदेशी पञ्जे से वही मुक्त कर सकती है और वही उसे स्वतन्त्रता प्रदान करने में समर्थ हो सकती है । इस प्रकार के आत्मानुभव ने उसके जीवन में महान परिवर्तन उपस्थित कर दिया । उसने बालकों के साथ खेलना त्याग दिया, खेतों में जाकर काम करना छोड़ दिया, लोगों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया । अब केवल वह थी और उसका ध्येय था । वह प्रति क्षण यही सोचती थी कि फ्रांस कैसे स्वतन्त्र होगा, दोफ़ाँ कैसे बादशाह बनेगा और प्रजा किस प्रकार सुखी होगी !

जोन एक निर्धन किसान-बालिका थी । दैवी प्रेरणा ही उसे इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए उत्तेजित कर रही थी । वह अपनी शक्ति समझती थी और मार्ग की कठिनाइयों का भी अनुमान करती थी । वह जानती थी कि अँगरेज़ों को फ्रांस से निकाल देना सरल नहीं है । इस उद्देश्य की पूर्ति में उसे त्याग करना होगा, रक्त की नदी बहानी होगी । संत मीशैल की देव-वाणियों में उसका विश्वास था । अतएव उन्हीं के आधार पर उसने अपनी कार्य-प्रणाली निर्धारित की । वह चुपचाप वौकूलियर के गवर्नर रोबे के यहाँ पहुँची और उनसे दोफ़ाँ चार्ल्स के राज्याभिषेक की चर्चा की । रोबे को उसकी देश-भक्ति का कुछ भी पता नहीं था । एक देहाती

बालिका और राज्याभिषेक की बात ! हँसकर उसने उसे टाल दिया । वह निराश नहीं हुई। सीधे घर चली गयी ।

घर पहुँचकर उसे माता पिता के विरोध का सामना करना पड़ा; परन्तु वह अपने निश्चित मार्ग से विचलित नहीं हुई। उसके माता-पिता उसका विवाह करना चाहते थे; परन्तु उसने आजन्म कुमारी रहने की प्रतिज्ञा कर ली थी। अतएव माता-पिता के बहुत कुछ प्रतारणा करने पर भी उसने विवाह नहीं किया। इसी बीच बोकूलियर पर आक्रमण करने के विचार से दोरेमी ग्राम में एक सेना आयी। इस सेना के आते ही वहाँ की प्रजा भय-भीत होकर भाग गयी। जोन के माता-पिता भी न्यफ़शातो नगर में अपने एक मित्र के यहाँ जाकर रहने लगे।

गृह-त्याग

इस घटना के कुछ दिनों बाद अङ्गरेज़ों की सेना ने औलेंन के ड्यूक को, जो दोफ़ाँ चार्ल्स का साथी था, बंदी कर लिया और औलेंन को चारों ओर से घेर लिया। इस समय जोन को फिर देव-वाणी हुई। इस देव-वाणी को सुनकर वह एक क्षण के लिए भी घर में न रह सकी। उसने अन्तिम बार अपने माता-पिता को मन में प्रणाम किया और बोकूलियर की ओर चल दी।

बोकूलियर पहुँचकर उसने पुनः रोबे से भेंट की और दोफ़ाँ से मिलकर औलेंन का घेरा तोड़ने तथा रेम नगर में उनका राज्याभिषेक करने की उसने अपनी इच्छा प्रकट की। रोबे ने उसकी बातें बड़े ध्यान से सुनीं और दोफ़ाँ से मिलने का प्रबन्ध कर दिया। जोन बड़ी प्रसन्न हुई। उसकी आशा-लता लहलहा उठी। उसने अपने बाल कटवा दिये, मर्दों की पोशाक पहनी, कमर में तलवार बाँधी और शीनों की ओर प्रस्थान किया। ११ दिनों की संकटपूर्ण यात्रा के पश्चात् वह शीनों पहुँची और दरबार में उपस्थित हुई। दोफ़ाँ उससे मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने बुद्धिमानों की एक सभा की। लगभग छः सप्ताह तक इस सभा ने जोन की परीक्षा ली। अन्त में सन्तुष्ट होने पर सभासदों ने उसमें अपना विश्वास प्रकट किया और उसके औलेंन जाने का प्रबन्ध कर दिया।

दोफ़ाँ से भेंट

जोन एक सेना लेकर औलैंन की ओर चल दी। ब्लूआ नामक नगर में पहुँचने पर उसने अङ्गरेज़ों के सेना-पति के पास एक पत्र भेजा। अंगरेज़ों ने इस पत्र को पढ़कर बड़ा रोष प्रकट किया और पत्र-वाहक को ज़ंजीरों से बांधकर बंदी कर लिया। जोन को इन बातों की कुछ भी ख़बर न हुई। इस-लिए कुछ समय तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् वह औलैंन की ओर रवाना हुई।

२८ अप्रैल को वह औलैंन पहुँच गयी। उस समय संध्या हो गयी थी। इसलिए दूसरे दिन प्रातःकाल वह नदी पार करके नगर की चहारदीवारी के भीतर दाख़िल हुई। उस समय आबालवृद्ध जनता उसका दर्शन करने के लिए टूट पड़ी। चारों ओर उसका अभूतपूर्व स्वागत हुआ।

जोन बड़ी अनुभवी थी। उसने उसी दिन युद्ध छेड़ना उचित नहीं समझा। वह पहले अंगरेज़ों के सरदार, टालबोड, से मिलकर सन्धि की बातें करना चाहती थी। इसी उद्देश्य से उसने अपने पत्र का उत्तर अंगरेज़ों से युद्ध पाने और पहले दूत की खोज-ख़बर लेने के लिए दूसरा दूत भेजा। अंगरेज़ों ने इसके साथ भी अभद्रता का व्यवहार किया और यह कहला भेजा कि यदि इस सम्बन्ध में पुनः पत्र-व्यवहार किया गया तो वह दूत को जलाकर भस्म कर देंगे।

यह समाचार सुनकर देवी जोन को बड़ा क्रोध आया; परन्तु उसने धैर्य से काम लिया। वह युद्ध से सन्धि को अच्छा समझती थी; परन्तु अंगरेज़ इसके लिए तैयार नहीं थे। विवश होकर उसे युद्ध करना पड़ा। उसने सबसे पहले औलैंन की बिखरी हुई शक्तियों को संगठित किया। इसके बाद वह उनकी नेत्री होकर अंगरेज़ों के विरुद्ध आगे बढ़ी। अंगरेज़ों के मोर्चों के पास पहुँचते ही उसने इतनी वीरता दिखाई कि उनके छक्के छूट गये और वह हारकर भाग खड़े हुए। देवी जोन की विजय हुई। दूसरी बार उसने फिर अंगरेज़ों पर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। अंगरेज़ों का वह २०९ दिन का घेरा जोन ने ६ दिन में तोड़ दिया और उन्हें रण-क्षेत्र से भगा दिया। सच्ची लगन इसी का नाम है और सच्चा देशानुराग इसे ही कहते हैं।

औलेंन-निवासियों को अंगरेज़ों के पञ्जे से मुक्त करने के पश्चात् जोन पुनः दोफ़ाँ के पास पहुँची। वहाँ उसका बड़ा आदर-सत्कार हुआ। बड़े-बड़े पादरी उसके भक्त हो गये। उसकी मूर्तियाँ गिर्जाघरों में रखी जाने लगीं और प्रार्थना के समय उसका नाम लिया जाने लगा। राज्य के अधिकारी वर्ग राज्य-कार्य की कठिनाइयों के सम्बन्ध में उससे परामर्श लेने लगे और वह उनका नेतृत्व करने लगी। इससे प्रजा का विश्वास उसमें और भी बढ़ गया।

लोकप्रियता और पुनः युद्ध

उस समय ज़ारगो नगर पर अंगरेज़ों का अधिकार था। यह नगर औलेंन के निकट था। अपने पड़ोस में अंगरेज़ों की प्रधानता औलेंन-निवासियों के हृदय में खटक रही थी। वह चाहते थे कि यह नगर भी स्वतंत्र हो जाय। ऐसी दशा में उन्होंने जोन से प्रार्थना की। जोन यह समाचार पाते ही औलेंन पहुँची और युद्ध की तैयारी करने लगी। अँगरेज़ तो पहले ही से तैयार थे। फलतः युद्ध ठन गया। दोनों ओर से तोपें दाग़ी जाने लगीं। चार घण्टे ही में जोन अपना झण्डा लिए हुए क़िले की दीवार के ऊपर पहुँच गयी और दीवार तोड़ कर भीतर घुस गयी। अँगरेज़ चारों ओर से घेर लिये गये। यह दशा देखकर जेनरल सफ़ोक ने आत्मसमर्पण कर दिया।

इस प्रकार विजय प्राप्त करने के पश्चात् जोन को दोफ़ाँ चार्ल्स के राज्याभिषेक की चिन्ता हुई। उस समय फ़्रांस के राजाओं का राज्याभिषेक रेम नगर में होता था। वहाँ पहुँचने के लिए शत्रुओं के बीच से होकर २५० मील जाना था। जोन ने जिओं नगर में चार्ल्स के सहायकों की एक सेना एकत्र की और स्वयं उसका संचालन किया। मार्ग के बहुत से नगरों ने उसके लिए अपने फाटक खोल दिये। त्रौइये नगर में पहुँचने पर उसे शत्रुओं की सेना का सामना करना पड़ा; परन्तु उसने अपने कौशल से वहाँ भी विजय प्राप्त की। शालों नगर का भी यही हाल हुआ। इस प्रकार विजय-दुंदुभी बजाते हुए चार्ल्स ने शनिवार की रात्रि को रेम नगर में प्रवेश किया। दूसरे दिन प्रातःकाल वह अपने दरबारियों के साथ गिर्जाघर में गया। जोन उसके पास

राज्याभिषेक

झण्डा लेकर खड़ी हो गयी और अपनी आँखों से राज्याभिषेक देखती रही। इस उत्सव में उसका पिता भी सम्मिलित था। उस समय दोरेमी की प्रजा बड़े संकट में थी। सैनिकों के आगमन से फ़सलें नष्ट हो गयी थीं और गाँव उजड़ गया था। जोन ने अपनी जन्म-भूमि की करुण-कथा सुनकर चार्ल्स से लगान माफ़ कर देने की प्रार्थना की। उसकी यह प्रार्थना तुरन्त स्वीकार की गयी।

कुछ दिनों तक रेम नगर में रहने के पश्चात् चार्ल्स की सेना पेरिस की ओर चली। शत्रुओं से पेरिस ले लेना ही अब जोन का कार्य रह गया था।

अँगरेज़ों से युद्ध और बन्दी जीवन

वह मार्ग के समस्त नगरों पर विजय प्राप्त करती हुई सोली पहुँची। यहाँ अँगरेज़ी सेना मार्ग रोके हुए खड़ी थी। अतएव युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में चार्ल्स की विजय हुई। अब वह पेरिस पहुँचा। अँगरेज़ और बर्गण्डीवाले बहुत दिनों से युद्ध की तैयारी कर रहे थे। इसलिए जोन के पहुँचते ही पुनः युद्ध छेड़ दिया गया। तीरों और गोलों की वर्षा होने लगी। थोड़ी देर तक युद्ध करने के पश्चात् वह आहत हो गयी। ऐसी दशा में युद्ध बन्द हो गया और वह वहाँ से चली गयी। कुछ दिनों तक आराम करने के पश्चात् उसने फिर युद्ध छेड़ दिया। इस बार बोवे नामक प्रदेश में वह अँगरेज़ों के पंजे में फँस गयी और गिरफ़्तार कर ली गयी। उसके साथ उसका भाई पियर भी पकड़ लिया गया। उसके अस्त्र-शस्त्र छीन लिए गये और वह मार्गनी के बन्दी-गृह में डाल दी गयी। अब अँगरेज़ों ने उसके विरुद्ध षड्यन्त्र रचना आरंभ किया। वह उसके ख़ून के प्यासे थे। वह चाहते थे जोन की मृत्यु और चार्ल्स का अपयश। बस इसके बाद अँगरेज़ों के मार्ग में कोई बाधा नहीं थी।

यह बताया जा चुका कि जोन मार्गनी के बन्दी-गृह में थी। वहाँ से अँगरेज़ों ने उसे बोरिया नामक नगर के दुर्ग में भेज दिया। यह दुर्ग अधिक सुरक्षित नहीं था; इसलिए यहाँ से वह चारा नगर के दुर्ग में भेज दी गयी। इधर अँगरेज़ बोवे के बिशप, कोशों से जोन के विषय में सौदा कर रहे थे। कोशों भी अँगरेज़ों की भाँति उसके ख़ून का प्यासा था। अँगरेज़ और कोशों

के बीच सौदा पट गया और वह उसी नर-पिशाच कोशों के हाथ दस सहस्त्र फ्रांक में बेच दी गयी। चार्ल्स चुप रहा। वह टस से मस न हुआ। जिस चार्ल्स के लिए जोन ने इतना त्याग किया था, जिस चार्ल्स के लिए उसने अपने समस्त सुखों पर लात मारी थी उस चार्ल्स के मुख से उसके लिए एक शब्द भी न निकला।

कोशों ने जोन पर मुक़दमा चलाया और उसके कट्टर शत्रु को मजिस्ट्रेट निर्वाचित किया। असेसर भी ऐसे ही थे। २१ फ़रवरी सन् १६४१ ई० को मुक़दमे की पहली पेशी हुई। बिशप कोशों प्रधान न्यायाधीश बना। उसने ऐसे नीचतापूर्ण व्यवहारों से काम लिया कि लेखनी उन्हें अंकित नहीं कर सकती। अन्त में वही हुआ जो होना था। जोन पर ७० अभियोग लगाये गये। जजों ने उसे असत्य-भाषिणी, पाखंडिनी, जादूगरनी, मूर्तिपूजक आदि घोषित कर आजन्म कारावास का दण्ड दिया। हेनरी को यह फैसला उचित न जान पड़ा। उसने दूसरी बार ३० मई सन् १४३१ ई० को उस पर फिर मुक़दमा चलाया। इस बार कोशों ने उसे मृत्यु-दंड दिया।

अभियोग और फाँसी

दंडाज्ञा सुनकर जोन रोने लगी। उसने उसी समय ईश्वर से प्रार्थना की और सबसे क्षमा माँगी। वह अन्त समय तक कृतघ्नी चार्ल्स की याद करती रही। थोड़ी देर पश्चात् जल्लाद उसे वेदी पर ले गए। जोन ने एक क्रास माँगा और उसे अपनी छाती से लगा लिया।। यह दृश्य देख कर बहुत से पादरी और अँगरेज़ रोने लगे। जोन एक लट्ठे से बाँध दी गई। उसके पैरों के नीचे उसकी चिता थी। जिस समय चिता में आग लगाई गयी वह ईसा का नाम लेकर चिल्ला उठी। इसी प्रकार उसने पाँच बार ईसा को स्मरण किया। छठी बार नाम लेते ही उसने सदा के लिए इस पार्थिव जगत से बिदा ली। उसका शरीर-भस्म सीन नदी में फेंक दिया गया। इस प्रकार उस वीरबाला का अन्त हुआ; परन्तु दूसरों की आग में जलकर उसने समस्त फ्रांस में जो आग लगायी वह शांत न हो सकी। उसके मरने के थोड़े ही दिनों बाद स्वार्थी चार्ल्स ने पेरिस पर विजय प्राप्त की। धीरे-धीरे उसकी शक्ति बढ़ने लगी।

उसे अब जोन का ख़्याल आया। १६ जून सन् १४५५ ई० का निर्णय रद्द कर दिया गया और उसकी मृत्यु पर सबने बड़ा शोक प्रकट किया।

जोन के बलिदान, त्याग तथा तपस्या ने फ्रांस में जो राज-क्रान्ति उपस्थित की वह संसार के पीड़ित-राष्ट्रों के लिए एक आदर्श है। उसका रहस्यमय जीवन इतिहास की एक अद्भुत कथा है। वह न तो जादूगरनी थी और न असत्य-भाषिणी। वह थी सर्वगुणसम्पन्न राजनीतिक नेत्री जिसने फ्रांस-निवासियों को अँगरेज़ों के अत्याचारों का भली भाँति ज्ञान कराया तथा उन्हें उनके विरुद्ध सचेत कर दिया। वह देश-सेविका मर कर भी अमर है। आज फ्रांस का एक-एक कण उसके बलिदान की कहानी कहता है और जनता को स्वतंत्रता का पाठ पढ़ाता है।

लुई माइकेल

एक दरिद्र परिवार ! न खाने के लिए अन्न, न शरीर ढकने के लिए वस्त्र, न रहने के लिए कोई प्रबन्ध, न जीवन-निर्वाह का कोई साधन । आस-पास लोग खाते थे, अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनते थे, सजधज कर निकलते थे । वह परिवार तड़पता था पेट भर भोजन और सफ़ेद वस्त्र के लिए ।

जन्म स्थान और परिवार

उस परिवार में एक स्त्री थी। रूप-रंग में अद्वितीय, अंग-अंग से यौवन फूटा पड़ता था । उसने एक वकील की कोठी में नौकरी कर ली । कुछ पैसे मिलने लगे । पेट भरने लगा, सफ़ेद वस्त्र पहन कर लोगों से मिलने-जुलने लगी । युवती थी ही, लोगों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ । वह सुन्दरी थी । वकील साहब के सुपुत्र से उसका सम्बन्ध हो गया । इस प्रकार लुई माइकेल ने जारज सन्तान की हैसियत से २९ मई सन् १८३० ई० को फ्रांस के ब्रानकोर्ट ग्राम में जन्म लिया । लारेयट डेहमिस उस स्त्री के पति थे । उन्हें यह बात बहुत बुरी मालूम हुई । इसलिए वह खेती-बारी करने के बहाने अन्यत्र चले गये । पितामह ऐटिनी चार्ल्स डेहमिस ने नवजात शिशु का बड़े प्रेम से पालन-पोषण किया । वकील साहब उदार व्यक्ति थे । उन्होंने भी उसकी उचित सहायता की ।

बाल्यावस्था और शिक्षा

लुई असाधारण बालिका थी । थोड़े ही दिनों में उसने भाषा का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया । ६-७ वर्ष की अवस्था में वह कविता करने लगी और दसवें वर्ष में पदार्पण करते ही उसने विश्व-इतिहास लिखने की इच्छा प्रकट की । उसकी बुद्धि बड़ी तीक्ष्ण थी । किसी विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए वह अपने पितामह से ख़ूब प्रश्न करती थी और उनसे घण्टों बहस करती थी । उसके पितामह भी बड़े योग्य व्यक्ति थे । वह उसे बड़े धैर्यपूर्वक पढ़ाते थे और उसके

प्रश्नों का उचित उत्तर देते थे। उन्होंने उसे गान-विद्या का भी अच्छा अभ्यास कराया था। वह अत्यन्त मधुर स्वर से गाती थी। उसे राजनीति से भी बहुत प्रेम था।

लुई के पितामह ने सन् १७८९ ई० की फ्रांसीसी राजक्रान्ति में भाग लिया था। उसका चित्र उनकी आँखों के सामने था और वह प्रायः उसकी कहानियाँ लुई को सुनाया करते थे। लुई इन कहानियों से प्रभावित होकर बहुधा वैसे ही खेल खेला करती थी। वह लकड़ियों का ढेर इकट्ठा करती थी और उस पर बैठकर यह कल्पना करती थी कि वह जीवित जलाई जा रही है। जिस समय कल्पित अग्नि की रक्तिम लपटें उठती थीं उस समय लुई के मुख-मण्डल पर अनुपम ज्योति की रेखा खेलती हुई दीख पड़ती थी। पितामह उसके ऐसे खेल देखकर बड़े प्रसन्न होते थे और उसे प्रोत्साहन देते थे। इससे लुई का साहस बढ़ता जाता था।

साहित्य-प्रेम

लुई भावुक और प्रतिभाशाली स्त्री थी। कविता करने का उसे बहुत शौक़ था। इस सम्बन्ध में उसने फ्रांस के सुप्रसिद्ध लेखक विक्टर ह्यूगो को अपना गुरु बनाया था। वह कविताएँ लिख कर उन्हीं के पास संशोधनार्थ भेज दिया करती थी। उसकी कविताएँ बड़ी सुन्दर होती थीं। इसलिए विक्टर ह्यूगो उसे बराबर प्रोत्साहित किया करते थे। लुई को बाहर घूमने का बड़ा शौक़ था। घर में बैठे-बैठे जब उसका जी ऊब जाता था तब वह बाहर निकल जाती थी और आस-पास के ग्रामों में खूब घूमती थी। इस प्रकार बचपन ही से उसमें देशाटन की रुचि उत्पन्न हो गयी थी। वह समुद्र-यात्रा करना चाहती थी। सुअवसर न मिलने के कारण उसकी यह साध बहुत दिनों में पूरी हुई।

अध्यापन-कार्य

लुई अब १६-१७ वर्ष की हो गयी थी। उसके पिता अपने घर लौट आये थे। उन्होंने उच्च घराने की एक महिला से अपना विवाह कर लिया था। वह बड़े चिड़चिड़े स्वभाव की थी। लुई से तो वह बहुत जलती थी। एक दिन उसने लुई तथा उसकी माता को नौकरों की कोठरी में रहने की

आज्ञा दे दी। पिता ने यह देखकर लुई को अध्यापिका का कार्य सीखने के लिए चौमण्ड नामक स्थान पर भेज दिया। वहाँ उसने सब परीक्षाएँ बड़ी योग्यतापूर्वक पास कीं। तत्पश्चात् अपने ग्राम के निकट ही एक स्कूल में वह अध्यापन कार्य करने लगी।

लुई को अपनी माता से विशेष प्रेम था। अपनी विमाता के कटु-व्यवहारों से माता पर उसकी और भी श्रद्धा बढ़ गयी थी। वह दिन-रात उसका ध्यान रखती थी और उसे हर तरह से सुख पहुँचाने की चेष्टा करती थी। वस्तुत: उसका मातृ-प्रेम उसके जीवनी का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। इसी प्रेम के वशीभूति होकर वह नौकरी करती थी। अवकाश के समय वह प्राइवेट ट्यूशन करती थी, पत्रों में लेख लिखती थी, वैज्ञानिक तथा राजनीतिक ग्रन्थों का अध्ययन करती थी, और क्रान्तिकारी क्लबों में भी जाती थी। इन सब कामों में उसका अधिक समय निकल जाता था। उसे ग्रन्थ-रचना के लिए बहुत कम समय मिलता था। फिर भी उसने कई उपन्यास लिख डाले थे। वह अत्यन्त गंभीर वक्ता थी। उसके व्याख्यानों में बड़ा आकर्षण होता था, जिन्हें सुनने के लिए सहस्रों की भीड़ लग जाती थी।

लुई में स्त्रीत्व की अपेक्षा पुरुषत्व अधिक था। वह छरहरे बदन की थी। जिस समय वह तनकर खड़ी हो जाती थी उस समय पुरुष-योद्धा-सी जान पड़ती थी। वह सदा काले रंग के कपड़े पहना करती थी। चलते समय वह विद्रोह और गंभीरता की सजीव मूर्ति जान पड़ती थी। उसमें अभूतपूर्व पौरुष और साहस था। वह स्त्री वेष में सिंहनी थी। एक बार पेरिस की गलियों में घूमते हुए कुछ बदमाशों ने उससे छेड़-छाड़ की। उस समय उसने उनको ऐसा फटकारा कि वह लोग उसे स्त्री के वेष में पुरुष समझकर भाग खड़े हुए। ७० वर्ष की आयु में उसका जो चित्र खींचा गया था उससे वह स्त्री नहीं, योद्धा प्रतीत होती थी। उसका हृदय बड़ा कठोर और विद्रोही था। समाज-शत्रुओं के प्रति वह कड़े-से-कड़े व्यवहार कर सकती थी। इतना होने पर भी उसके स्वभाव में बड़ी कोमलता थी। अत्याचार पीड़ितों के

चरित्र

प्रति उसके हृदय में एक स्वाभाविक आकर्षण था। जब वह हृदय-हीन पुरुषों का मूक प्राणियों पर ज़ुल्म देखती थी तब उसका विद्रोही मन उबल पड़ता था। उसका मातृवत् कोमल हृदय किसी प्राणी का कष्ट देखने में असमर्थ था। अपने जीवन के अन्तिम दिनों में जब वह कुछ दिनों के लिए इँगलैंड में आकर रहने लगी थी तब उसने अपने घर में बहुत से अधमरे जीव-जन्तुओं को शरण दी थी। वह सौंदर्य उपासिका थी। प्राकृतिक सौन्दर्य देखकर वह उन्मत्त हो जाती थी। उस समय उसकी तन्मयता कविता का रूप धारण कर लेती थी। स्वभाव की ऐसी विषमता कम लोगो में देखी जाती है। सच पूछिए तो उसमें देवत्व और दानवत्व का सुन्दर सम्मिलन हुआ था।

३६ वर्ष की अवस्था में लुई को पेरिस की एक कन्या पाठशाला में नौकरी मिल गयी। वहाँ उसे कम वेतन मिलता था। यद्यपि उसके पितामह ने मरते समय उसके लिए काफ़ी धन छोड़ा था और यह वसीयत की थी कि विवाह के समय वह उक्त धन की उत्तराधिकारिणी हो; परन्तु उस धन का उपयोग करना उसके भाग्य में नहीं था। वह आजन्म अविवाहिता रही। वह अपने अथक परिश्रम से जो कुछ कमा लेती थी उसी से अपनी तथा अपने माँ की परवरिश करती थी।

क्रान्ति के पथ पर

पेरिस के जीवन ने लुई के हृदय में क्रान्तिकारी विचारों का संघर्ष उत्पन्न कर दिया था। एक ओर वह लख-पतियों तथा करोड़-पतियों के गगनचुम्बी प्रासाद देखती थी तो दूसरी ओर मज़दूरों और भिखारियों की झोंपड़ियाँ उसे दृष्टिगोचर होती थीं। सेठ-साहूकार समाज के नेता बन बैठे थे। पूँजीवाद अपना विकसित और विकराल रूप दिखा रहा था। निर्धन बुरी तरह अन्याय की चक्की में पीसे जा रहे थे। उनके बच्चों पर ज़ुल्म होता था और वह बहुत घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। लुई की आत्मा यह सामाजिक विषमता देखकर विह्वल हो गई। क्रान्तिकारी विचार तो उसके पहले ही से थे, अब वह और भी परिपक्व हो गये। वह प्रजातंत्रवादी क्लबों में जाने लगी और

अपने विचारों से लोगों को प्रभावित करने लगी।

इसी समय कार्ल मार्क्स ने अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर-संघ की स्थापना की। इस समाचार से लुई को बड़ी प्रसन्नता हुई। इन समस्त कार्यों में लगे रहने पर भी वह साहित्य की सेवा करना कभी नहीं भूलती थी। वह कविताएँ तथा उपन्यास बराबर लिखती रहती थी। कभी-कभी उसके इस काम में बाधा भी पड़ती थी। एक बार जब पेरिस के प्रजातन्त्रवादियों ने एक होटल पर चढ़ाई करने का विचार किया तब वह भी सवारों की पोशाक में उनके साथ गयी थी। वह सदैव एक रिवाल्वर अपने साथ रखती थी। कई बार उसने तमंचे की धमकी से पुलिस को अपने कमरे में आने से रोक दिया था। जब दो महीने के लिए पेरिस पर क्रान्तिकारी संघ ने अपना शासन जमा लिया तब वह उसके प्रधान कार्यकर्ताओं में थी और निरन्तर सिपाही की हैसियत से मुस्तैदी के साथ काम करती रही।

४१वें वर्ष में १८ मार्च सन् १८७१ ई० के दिन ऊषाकाल के समय ख़तरे का बिगुल बजते ही वह स्वाधीनता के यज्ञ में अपने जीवन की आहुति देने के लिए तैयार हो गयी। सैकड़ों पुरुष और स्त्रियाँ उसके साथ थीं। उनमें अदम्य उत्साह और अपूर्व लगन थी। सरकार के सिपाही विद्रोहियों पर धाँय-धाँय गोलियाँ चला रहे थे। लुई डटी हुई थी। वह चाहती तो युद्ध-क्षेत्र से भाग सकती थी; परन्तु उसके हृदय में इसकी कल्पना तक न आयी। वह बराबर विद्रोहियों के साथ रही। अकस्मात एक गली के भयङ्कर युद्ध में उसे धक्का लगा और वह ज़मीन पर गिर पड़ी। उसके शरीर में कड़ी चोट लगी। अब भी वह भाग सकती थी; परन्तु अपनी माता की गिरफ़्तारी के भय से वह कहीं न जा सकी। उसकी माता पकड़ ली गयी। लुई ने मातृ-प्रेम से विह्वल होकर आत्म-समर्पण कर दिया। माँ छोड़ दी गई। लुई पर मुक़दमा चलाया गया। फलस्वरूप उसे निर्वासन का दण्ड मिला।

न्यूकेले डोनिया की जेल में लुई को निर्वासन के आठ वर्ष व्यतीत करने पड़े। अपने जेल-जीवन में उसे वर्तमान शासन से घृणा हो गयी थी। वह

जेल-जीवन

बाकूनिन और प्रिंस क्रोपटकिन के अराजकवादी सिद्धान्तों से सहानुभूति रखती थी। अतः आठ वर्ष पश्चात् जब वह जेल से निकलकर आयी तब उसने फिर वही कार्य आरम्भ कर दिया। उसमें गज़ब की भाषण-शक्ति थी। उसका एक-एक शब्द जनता में बिजली भर देता था। सरकार परेशान थी। सन् १८८२ ई० में एक क्रान्तिकारी के जन्मोत्सव में भाग लेने के कारण उसे दो महीने तक कारा-वास का दण्ड भोगना पड़ा। १८८३ ई० में जब पेरिस में भूखे लोगों की भीड़ बाज़ार में मार्च करती हुई निकली तब लुई माइकेल भी उनके साथ थी। भूखे आदमियों ने रोटियों की दूकानें लूट लीं। वह फिर पकड़ ली गयी और छः वर्ष के लिए जेल में ठूँस दी गयी। इस बार उसने जेल में रहनेवाले अभियुक्तों को पढ़ाना शुरू किया। वह उनके लिए कपड़े सी देती थी और हर तरह से उनकी सहायता के लिए तैयार रहती थी, परन्तु विधाता उसके विरुद्ध था।

इसी बीच सन् १८८५ ई० में उसकी माता का स्वर्गवास हो गया। यह उसके जीवन की अत्यन्त दुखद घटना थी। जेलख़ाने के गवर्नर ने यह जानकर १४ जुलाई सन् १८८५ ई० को अन्य क़ैदियों के साथ उसे छोड़ना चाहा; परन्तु उसने निश्चित समय से पहले छूटने से इन्कार कर दिया। वह सन् १८८६ ई० में जेल से छूटी और सीधे अराजकवादियों की मीटिंग में जा पहुँची। वहाँ दो हज़ार आदमियों की भीड़ थी। किसी ने अचानक उस पर गोली दाग़ दी। वह घायल हो गयी।। अपराधी पर मुक़दमा चलाया गया। लुई उसे फँसाना नहीं चाहती थी। वह जानती थी कि अपराधी ने निर्बलता-वश ऐसा किया है। इसलिए उसने अभियुक्त को भरसक बचाने का प्रयत्न किया। उसने उसके पक्ष में पैरवी की और उसकी दुखित पत्नी की सहायता भी की।

लुई अपने धुन की पक्की थी। सन् १८९० ई० में उसने वाइन ज़िले के हड़तालियों के साथ होकर बहुत काम किया। मज़दूर-आन्दोलनों में वह बरा-बर भाग लेती थी और उनका नेतृत्व भी करती थी। अन्तिम बार वह लाइन्स

में पकड़ी गयी। जेल के अधिकारियों ने षड्यन्त्र रचकर उसे शराब पिला दी। जिस समय वह कचहरी में जजों के सामने पेश की गई, उस समय उसके मुँह से अँय-बँय शब्द निकलने लगे। जजों को मौक़ा मिल गया। उन्होंने उसे कचहरी से बाहर निकाल दिया। इसके बाद वह इँग्लैण्ड चली गयी। वहाँ वह फ़ेबियन तथा अराजकवादियों की मीटिंग में बराबर भाग लेती रही।

सन् १८६६ ई० में लुई स्वदेश लौटी और ६ वर्ष तक पुनः क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित होकर कार्य करती रही। अदम्य उत्साही नवयुवक कार्यकर्ता उसके साहस का लोहा मानते थे। थकना तो वह जानती ही नहीं थी। वह ८ या ६ जनवरी को बीमार पड़ी। उसे निमोनिया हो गया। उस समय उसके पास केवल ५ फ्रांक थे। १० जनवरी सन् १६०५ को उसकी हालत बहुत ख़राब हो गयी। डाक्टरों ने जवाब दे दिया। अन्त में उसी दिन उसकी मृत्यु होगयी।

अन्तिम दर्शन

लुई ने जीवन की कला का मूल्य समझा था। वह क्रान्ति पर जीना मरना जानती थी। उसकी लेखनी, वाणी और बन्दूक तीनों में अद्भुत शक्ति थी। वह सच्ची वीराङ्गना थी। स्वाधीनता-संग्राम में उसने अपना जीवन लगा दिया था। वह रूस में क्रान्ति चाहती थी। इसलिए आजन्म वह इस उद्देश्य की पूर्ति में प्रयत्नशील रही। उसके समान प्रयत्नशील महिलाएँ संसार में कम देखने में आती हैं। वह विदुषी थी, सुलेखिका थी और थी अत्याचार-पीड़ितों के लिए स्वर्ग की देवी। संसार का क्रान्तिकारी दल आज उसके त्याग और तपस्या से गौरवान्वित है।

साध्वी गेयों

एक धनी पिता की एक सुन्दर पुत्री। नाम था उसका जॉन मेरी। गंभीर, विचारशील, न खिलौनों से प्रेम था, न खेल में जी लगता था। कहानियाँ वह ख़ूब सुनती थी। उसे बहुत सी कहानियाँ याद थीं। एक से एक अच्छी। उसके मुख से जो सुनता था वही उसकी प्रशंसा करता था। विचित्र थी वह बालिका; विचित्र थीं उसकी कहानियाँ; विचित्र था उसके कहने का ढंग।

उसकी कहानियाँ परियों की नहीं थीं; राक्षसों की नहीं थीं; देश भक्तों की नहीं थीं। उसकी कहानियाँ थीं सन्तों की; साधुओं की; ईश्वर-भक्तों की; त्यागियों की; तपस्वियों की। बड़े ऊँचे भाव होते थे उन कहानियों में। जॉन मेरी उन्हें ख़ूब समझाती थी। सुननेवाले दंग रह जाते थे। कहते थे—वह देवी है। उसमें ईश्वर की ज्योति है परन्तु उसका जीवन-इतिहास दुःखों का इतिहास है, विपत्तियों की कहानी है।

जन्म-स्थान और वंश-परिचय

उसका जन्म फ्रांस के मोटरभी नगर में १३ अप्रैल सन् १६४८ को हुआ था। उसके पिता बड़े धनी और प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। किसी बात की उन्हें कमी नहीं थी। घर में अन्न भरा हुआ था। सेवा-टहल के लिए नौकर चाकर थे। जॉन मेरी सब के हाथों का खिलौना थी।

बाल्यावस्था और शिक्षा

जॉन मेरी पाँच वर्ष की हुई और पढ़ने के लिए एक पाठशाला में भेजी गयी। उसकी स्मरण-शक्ति अत्यन्त तीव्र थी। पढ़ने-लिखने में उसका जी भी ख़ूब लगता था। थोड़े ही दिनों में उसने बहुत-सी पुस्तकें पढ़ लीं। वह प्रायः धार्मिक पुस्तकें पढ़ा करती थी। ११ वर्ष की अवस्था में उसने बाइबिल समाप्त कर ली और उसके कुछ अंश ज़बानी याद कर लिये। उस समय बहुत कम लोग बाइबिल पढ़ना जानते थे।

मेरी रूपवती थी। अंग-अंग साँचे में ढला हुआ था। चौदह वर्ष की अवस्था में वह अप्सरा-सी जान पड़ती थी। एक युवक ने उसे देखा और वह उसपर मोहित हो गया। युवक था साधारण स्थिति का। जॉन मेरी थी धनी घर की। दरिद्र और धनी में कैसा सम्बन्ध! पिता ने उस युवक को दुतकार दिया। इस घटना के थोड़े दिनों पश्चात् वह फ्रांस की इन्द्रपुरी, पेरिस चले गये। वहाँ एम० जे० गेयों नाम के एक धनी सज्जन रहते थे। धार्मिक बातों में उनकी बिलकुल रुचि नहीं थी। पिता धनी युवक की खोज में तो थे ही, अतएव उन्होंने उन्हीं के साथ २१ मार्च सन् १६६४ ई० को मेरी का विवाह कर दिया। अब वह जॉन मेरी से मैडम गेयों कहलाने लगी। इस समय उसकी अवस्था १६ वर्ष और उसके पति की अवस्था ३८ वर्ष की थी।

विवाह

मैडम गेयों का दाम्पत्य जीवन बड़े संकट में बीता। अपने बाल्यकाल में उसने कभी किसी प्रकार के दुःख का अनुभव नहीं किया था। वह सुख में पली थी। ससुराल में आने पर उसे मानसिक दुःखों ने घेर लिया। उसका विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध हुआ था। उसके पति के पास धन था धर्म-भावना नहीं थी। इस बात को वह अच्छी तरह जानती थी; फिर भी उसे विश्वास था कि वह अपने सद्गुणों द्वारा अपने नये परिवार में सुख से जीवन व्यतीत करेगी; परन्तु दुर्भाग्यवश उसका यह स्वप्न सत्य न हो सका। उसका पति बड़े तीक्ष्ण स्वभाव का था। वह असहिष्णु था और घर में सब को दबाकर रखना चाहता था। वह अपने व्यक्तित्व के आगे किसी को कुछ भी न समझता था। उसकी माँ भी वैसी ही थी। बात-बात में मैडम गेयों से उलझ जाती थी। केवल इतना ही नहीं वह अपने पुत्र का मन भी उसकी ओर से बिगाड़ा करती थी। वह उससे अपने नव-वधू के विषय में झूठी-झूठी शिकायतें किया करती थी। इन बातों से मैडम गेयों को बड़ा दुःख होता था। वह प्रायः रोया ही करती थी। देवी का दैत्य के घर प्रवेश हो गया था।

दाम्पत्य जीवन

मैडम गेयों का स्वभाव बड़ा कोमल था। वह अत्यन्त बुद्धिमान, उदार

और गंभीर थी। यद्यपि उसने कभी दुःख का अनुभव नहीं किया था तथापि वह दुःख सहन करना जानती थी। पति और सास के कटुतापूर्ण व्यवहारों से उसका जी संसार से हट सा गया था। वह समझ गयी थी कि संसार में लोग सुख की कल्पना करके दुःख ही झेलते हैं। दुःख पापों की जड़ है। इस पर विजय पाना ही मानव-जीवन की चरम सफलता है। यही सोचकर उसने कभी अपने मुख से सास अथवा पति के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा। वह उनके दुर्व्यवहारों को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करती थी और ईश्वर से उनमें सद्‌भावना उत्पन्न करने की प्रार्थना किया करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि वह तपाये हुए स्वर्ण की भाँति चमक उठी। वह जितना ही अधिक दुःख सहती थी उतना ही अधिक अपने में शक्ति का अनुभव करती थी। अब वह दुखों से बिलकुल नहीं घबड़ाती थी। उसके हृदय में अध्यात्मिक प्रकाश प्रदीप्त हो रहा था और वह इसी प्रकाश में सदैव रहना चाहती थी।

कुछ दिनों तक मैडम गेयों ससुराल में रहने के पश्चात् अपने पीहर चली गयी। उसके माता-पिता को उसके पति तथा सास के दुर्व्यवहारों का पता लग गया था। वह लोग बड़े दुःखी थे। उन्हें स्वप्न में भी आशा न थी कि उनकी फूल-सी पुत्री को अपने भावी जीवन में इतना दुःख झेलना पड़ेगा। वह अपनी पुत्री के स्वभाव से भलीभाँति परिचित थे। ससुराल से आने पर उन्होंने उसके मुखमण्डल पर विषाद की रेखा नहीं देखी। वह अत्यन्त प्रसन्न थी। माता-पिता उससे बहुत-सी बातें पूछते थे, परन्तु वह सब का उत्तर हँसकर देती थी।

दैवयोग से एक दिन सेण्ट फ्राँसिस-सम्प्रदाय के एक योग्य साधु से मैडम गेयों का परिचय हो गया। वह बड़ा तपस्वी था। उसने पाँच साल तक निर्जन वन में तपस्या और योग-साधन किया था। इस समय उसका उद्देश्य लोगों की अध्यात्मिक उन्नति करना था। मैडम गेयों ने उसमें अध्यात्मिक विकास का अच्छा परिचय पाकर अपने दुःख की करुण कहानी कह सुनायी।

साधु बड़ा प्रभावित हुआ। उसने उसे सान्त्वना दी और अपने उपदेशों से उसका भ्रम दूर किया। सन् १६५८ ई० की २२ जुलाई को मैडम गेयों को नवीन ज्ञान लाभ हुआ। उस समय उसकी अवस्था केवल २० वर्ष की थी।

पति-प्रेम-वञ्चिता मैडम गेयों का हृदय ईश्वर-प्रेम में निमग्न हो गया। विलास-पूर्ण जीवन से उसे घृणा हो गयी। स्वार्थी संसार से उसका जी उचट गया। सुख-भोग की इच्छा जाती रही। उसने थियेटरों में जाना, गाना-बजाना आदि सभी आमोद-प्रमोदों से बिलकुल मुँह मोड़ लिया। वह घण्टों ईश्वर के ध्यान में लीन रहने लगी। उसे अपने पति से ख़र्च के लिए काफ़ी धन मिला था। वह इस धन को निर्धनों और पीड़ितों की सहायता में व्यय करती थी। जो स्त्रियाँ नारीधर्म से गिर जाती थीं उन्हें वह उठाती थी, उपदेश देती थी और हर तरह से उनकी सहायता करती थी।

इस प्रकार कुछ समय पीहर में व्यतीत करके वह फिर अपने ससुराल चली आयी। यहाँ भी उसने वही कार्य आरंभ कर दिया; परन्तु उसकी सास की दृष्टि में स्त्रियों के लिए यह सब करना अधर्म था। वह उसके पति से भी इस कार्य की चर्चा किया करती थी। इसका फल यह होता था कि उसका पति कभी-कभी उस पर बुरी तरह बिगड़ जाता था और कठोर व्यवहार करते नहीं हिचकता था। मैडम गेयों इन सब दुःखों को प्रसन्नतापूर्वक सहन करती थी। उसकी गोद में एक सुन्दर बालक था। उसी का मुँह देखकर वह जीवित थी।

पुत्र, पुत्री तथा पिता की मृत्यु

सन् १६७० ई० के अक्टूबर महीने में उसे चेचक निकल आयी। इस रोग से पीड़ित और शक्तिहीन होने पर भी वह ईश्वर का चिन्तन करती रही। थोड़े दिनों तक बीमार रहने के पश्चात् वह तो अच्छी हो गयी; परन्तु दुर्दैव ने उसकी गोद से हँसता हुआ बालक छीन लिया। उसका बड़ा पुत्र अपने पिता की तरह बड़ा स्वेच्छाचारी था। इसलिए छोटे बालक पर उसका बहुत स्नेह था। उसकी मृत्यु से उसके हृदय को बहुत चोट लगी। अब तो वह संसार से और भी उदासीन हो गयी। इसी घटना के एक वर्ष पश्चात् उसके

पिता का भी देहान्त हो गया। उसकी प्यारी पुत्री भी चल बसी। इन दुखों ने उसे अत्यन्त विह्वल कर दिया। वह केवल रोती थी और ईश्वर से प्रार्थना करती थी। संसार उसके लिए सूना होता जा रहा था।

मैडम गेयों पति-परायणा स्त्री थी। उसका पति दुष्ट था, अत्याचारी था, फिर भी वह उससे प्रेम करती थी। नारी-धर्म के कर्तव्यों से वह भली भाँति परिचित थी। वह अपना सर्वस्व खोकर भी पति-वियोग नहीं चाहती थी; परन्तु विधि-विधान पर किसी का कोई बस नहीं चलता। सन् १६७६ ई० के जुलाई महीने में उसके पति सख्त बीमार हो गये। उसने उनकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा की। २४ दिन तक खाना-पीना-सोना सब भूलकर वह निरन्तर स्वामी की सेवा करती रही। स्वामी की आत्मा में अपनी आत्मा मिलाकर, वह ईश्वर से उनके जीवन की भिक्षा माँगती रही। गेयों को अब अपनी पत्नी का वास्तविक रूप देखने को मिला। अब तक वह अपनी माता के कहने से जिसे ठुकराते चले आ रहे थे, वही उन्हें ससार मे सबसे सुन्दर और श्रेष्ठ गुण सम्पन्न मालूम हो रही थी। बारह वर्ष तक उन्होंने कभी उसे भर आँखों नहीं देखा था। उसके कोमल हृदय में उनके प्रति कितना प्रेम है, इसकी भी परीक्षा उन्होंने कभी नहीं ली थी। अब यह उनका अन्तिम समय था। यही सोचकर वह बार-बार अपनी पत्नी को सान्त्वना देते थे, और अपने अपराधों के लिए उससे क्षमा-याचना करते थे। मैडम गेयों आँखों में आँसू भर कर चुप हो जाती थी। उस समय उसके मुख से एक शब्द भी न निकलता था। वह वहाँ से तुरन्त उठकर अपना जी बहला लेती थी। अन्त में २९ जुलाई सन् १६७६ ई० का, घातक दिवस आ पहुँचा। गेयों इस संसार से सदैव के लिए चल बसे। मैडम गेयों पर वज्र टूट पड़ा। पति-वियोग का दुःख उस साध्वी के लिए असह्य हो गया। उसका विवाह हुए अभी केवल १२ वर्ष चार महीने बीते थे। वह २८वें वर्ष में थी। यौवन पूर्ण रूप से विकसित हो चुका था। वह दो पुत्र और एक कन्या लेकर विधवा हुई थी।

पति की मृत्यु

पति-वियोग का दुःख तो था ही, सास का दुर्व्यवहार उसे और भी असह्य

हो रहा था। वह बहुत चाहती थी कि सास उससे स्नेहपूर्ण व्यवहार करे;

सास का दुर्व्यवहार

परन्तु उस कठोर हृदया को उस दीन स्त्री पर अत्याचार करते समय ज़रा भी संकोच नहीं होता था। वह उसे भाँति-भाँति के ताने देती थी और हर समय उसका हृदय छेदा करती थी। एक दिन बड़े दिन का त्योहार आने पर उसने अपनी सास से बड़े करुणापूर्ण शब्दों में अपने अपराधों के लिए क्षमा माँगी और सब बातों को भुलाकर उसके साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करने की प्रार्थना की; परन्तु फिर भी उसका हृदय नहीं पसीजा। उसने बिगड़कर उसे अपने घर से निकल जाने की आज्ञा दे दी।

साध्वी गेयों विवश हो गयी। उसने अपने दोनों पुत्रों को एक सुयोग्य अध्यापक के सुपुर्द कर दिया और स्वयं कन्या के साथ एक निर्जन स्थान में कुटी बनाकर रहने लगी। वहाँ उसने लेटिन भाषा का अभ्यास किया और धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन तथा ईश्वर के चिन्तन में अपना समय व्यतीत करने लगी। लोगों ने उसे पुनर्विवाह की सलाह दी; परन्तु वह इस प्रस्ताव पर राज़ी नहीं हुई। उसका मन परमात्मा की भक्ति में लीन हो चुका था। वह 'मीरा' की भाँति अपने साँवलिया के रंग में सराबोर हो चुकी थी। उस पर अब दूसरा रंग चढ़ने वाला न था। माया के पंक से निकलकर वह पुनः उसी में फँसना नहीं चाहती थी।

कुछ दिनों तक कुटी में रहने के पश्चात् भक्तिमती गेयों जेक्स नगर चली गयी। वहाँ के निवासियों ने उस साध्वी का बड़ा आदर-सत्कार किया

पर्यटन और कारावास

और उसके आराम के लिए पूरा प्रबन्ध कर दिया। वह प्रातःकाल और संध्या के समय स्त्री-पुरुषों को उपदेश देती थी और दरिद्र तथा भिखारियों की धन और वस्त्र से सेवा करती थी। उसके इस प्रकार के व्यवहार से जनता उस पर अपने प्राण न्योछावर करने के लिए तैयार हो गयी थी। अनेक नर-नारी पापों से कातर होकर उसके पास आते थे और वह उनके हृदय में धर्म-भाव जाग्रत करती थी। उसकी धर्म-परायणता से सभी संतुष्ट थे और सब उसे देवी समझते थे।

कुछ दिनों तक इसी प्रकार वह उस नगर में प्रेम और धर्म का प्रचार करती रही। तदनन्तर वह वहाँ से दूसरे स्थान को चली गयी। वहाँ उसने अपने धन से एक अस्पताल बनवाया और स्वयं रोगी नर-नारियों की सेवा करने लगी। वह रोगियों के घावों को स्वयं धोती और मरहम लगाती थी। जो लोग मर जाते थे उनके क्रिया-कर्म में वह अपने पास से धन व्यय करती थी। वह अनेक कारीगरों और गुणियों को गुप्त रूप से धन से सहायता देकर उनका उत्साह बढ़ाती थी। फ्राँस में उसके इन कार्यों से कई शत्रु पैदा हो गये थे। वह लोग उसके कार्य में बाधा डालते थे; परन्तु विरोध की वह कभी परवाह नहीं करती थी।

एक दिन कैथोलिक धर्मावलम्बियों ने उसके विरुद्ध एक जाली पत्र बनाकर उस पर मुक़दमा चलाया। राजा ने उसे अपराधी समझकर कारावास का कठोर दण्ड दे दिया। वह सेण्ट मेरी-जेल में बन्द कर दी गयी। उसकी गोद से कन्या भी छीन ली गयी। साध्वी गेयों को इस दुर्व्यवहार से कष्ट तो अवश्य हुआ; परन्तु संसार में कष्ट ही झेलने के लिए उसका जन्म हुआ था इसलिए उसने इसे भी सहन किया। वह जेल में ईश्वर का ध्यान करके कविता करने लगी। इसी बीच एक महिला से उसका परिचय हो गया। वह साध्वी गेयों के उपदेशों से बहुत प्रभावित हुई। राजा पर उसका बहुत प्रभाव था। इसलिए उसने राजा से उसे मुक्त करने की प्रार्थना की। जब राजा को मालूम हो गया कि वह निर्दोष है, तब उसने आठ महीने पश्चात् जेल से उसे मुक्त कर दिया।

उस समय फ्राँस में फ़ेनेलो नामक एक असाधारण धार्मिक पुरुष था। वह बड़ा पंडित, प्रतिभाशाली और महान ईश्वर-भक्त था। देश के हज़ारों व्यक्ति बड़ी श्रद्धा से उसके चरणों पर अपना शीश झुकाते थे। जेल से मुक्त होने के पश्चात् भक्तिमती गेयों उन्हीं की शरण में गयी। फ़ेनेलो गेयों के विचारों से बड़ा प्रभावित हुआ और उस पर श्रद्धा करने लगा। इसकी चर्चा फैलते ही लोगों में बड़ा असन्तोष फैल गया। साध्वी गेयों के शत्रुओं ने फ़ेनेलो और उस पर फिर मुक़दमा चलाया। फ़ेनेलो को देश छोड़कर भागना पड़ा;

परन्तु तपस्विनी गेयों पुनः जेल में बन्द कर दी गयी। वह चार वर्ष तक जेल में रही। इस बार उसे किसी प्रकार की स्वतंत्रता नहीं दी गयी।

जेल से छूटने के पश्चात् वह अपने देश से दूर चली गयी। यह उसके जीवन का वह समय था, जब उसकी ख्याति योरप के अन्य देशों में पहुँच चुकी थी। इँग्लैंड, जर्मनी आदि देशों से अनेक स्त्री-पुरुष उसका दर्शन करने के लिए आते थे और अपना जीवन सफल करते थे। इसी बीच लोगों के अनुरोध करने पर उसने आत्म-चरित्र भी लिखा और इँग्लैंड के एक सज्जन ने उसे प्रकाशित कराया।

साध्वी गेयों का जीवन दुःखों की करुण कहानी थी। वह धनी की कन्या, धनी की पत्नी, बड़ी रूपवती, सुशिक्षिता और धर्मशीला थी; फिर भी संसार में उसे इतने महान दुःख झेलने पड़े। ६० वर्ष की अवस्था में १ जून सन् १७१७ ई० को वह इस असार संसार को त्याग कर सदा के लिए ईश्वर की शरण में चली गयी।

मृत्यु

कितना करुणाजनक जीवन था उस तरुण तपस्विनी का! कितना त्याग था उस साध्वी में!! कितना ईश्वर-प्रेम था उसके हृदय में!!! दो सौ वर्ष के बाद भी उसके जीवन की करुण कहानी हृदय में पीड़ा उत्पन्न कर देती है और मुख से सहसा निकल पड़ता है 'धन्य थी देवी गेयों!'

वीरा फ़िगनर

वह ज़ारशाही का ज़माना था। अत्याचारों की आँधी बह रही थी। सार्वजनिक हित कुचले जा रहे थे। बेगार और ग़ुलामी की प्रथा का बोलबाला था। भू-स्वामी और पूँजी-पति ज़ार के हाथों के खिलौने हो रहे थे। प्रजा तबाह हो रही थी। अन्धेर नगरी थी। जो पैदा करे वह भूखों मरे। जो कपड़ा बुने वह नंगा रहे। जो घर बनाये वह बे-घर रहे। किसान के पास अन्न नहीं। कपड़ा बुननेवाले के पास वस्त्र नहीं। मुफ़्तख़ोरे मौज करें, चैन से रहें, दूध के कुल्ले करें खाएँ और खोएँ। अजब अन्धेर था। कोई किसी का पुर्साँहाल नहीं था। कोई किसी का पूछनेवाला नहीं। सब को अपनी-अपनी पड़ी थी। स्वार्थ का ज़माना था। स्वार्थी था राजा। स्वार्थी था हाकिम। सभी प्रजा के दुःख पर हँसते थे। अपने घरों में घी का चिराग़ जलाते थे। प्रजा अन्धकार में रहती थी। कब तक चल सकता था यह ज़ुल्म, यह अत्याचार! इसका एक दिन अन्त तो होना ही था। फूस तैयार था चिनगारी की देरी थी।

एक दिन जनता ने कहा—"बस। बहुत हो गया। अन्त करो इन अत्याचारों का। अब हम दबेंगे नहीं। क्यों दबें? क्या किसी से कम काम करते हैं? क्या किसी से कम शक्ति रखते हैं? फिर क्यों दबें? क्यों अत्याचार सहें? हमारा हमें दो, अपना अपने पास रखो।" ज़ार ने सुना और सुनते ही उसका कलेजा दहल गया। उसकी छाती फट गयी। वह खीज उठा। बहुतों को फाँसी दी गयी; बहुतों को गोली मारी गयी बहुतों को निर्वासन का दंड मिला। अपराध क्या था उन बेचारों का! क्या अपनी रोटी माँगना अपराध था? क्या अपना वस्त्र माँगना अपराध था? क्या बोलना अपराध था? क्रान्ति की लहर इन अत्याचारों से इन दमन-चक्रों से दब न सकी। स्त्री-पुरुष, पढ़े-बे-पढ़े, सब सम्मिलित थे इस महायज्ञ में। उस समय एक बालिका थी। नाम था उसका वीरा फ़िगनर।

उसका जन्म २४ जून सन् १८५२ ई० को क़ैज़ाँ प्रान्त (रूस) के एक कुलीन वंश में हुआ था। उसकी माता ने उस समय के अनुसार साधारण शिक्षा प्राप्त की थी; परन्तु उसके पिता निकोलोई एलेक्ज़ेण्ड्रोविच फ़िगनर बड़े बुद्धिमान और कार्यशील व्यक्ति थे। उन्होंने जंगलात की शिक्षा प्राप्त की थी और इस विभाग में एक उच्च पद पर आसीन थे।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

वीरा फ़िगनर के दो भाई और तीन बहनें थीं। वह अपने बहन भाइयों में सबसे बड़ी थी। लिडिआ उससे छोटी थी। वह शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् क्रान्तिकारी दल में सम्मिलित हो गई थी। ईवजीनिया और औल्गा भी इसी दल में काम कर रही थीं। पीटर इंजीनियर था और निकोलोई गान-विद्या में प्रवीण होने के कारण थियेटर में नौकरी करता था।

वीरा फ़िगनर बचपन में बड़े चंचल स्वभाव की थी। वह अपने बहन भाइयों से बहुत लड़ा करती थी और कभी-कभी उन्हें गालियाँ भी दे देती थी। झूठी बातें कह कर उन्हें पिटवा देना तो उसके बाँयें हाथ का खेल था। एक दिन उसने लिडीया पर झूठा दोष लगाकर अच्छी तरह पिटवाया। लिडिया रोने लगी। उसकी यह दशा देखकर वीरा लज्जा से गड़ गयी। बचपन की ऐसी घटनाओं को लोग प्रायः भूल जाते हैं; परन्तु सात वर्ष की उस चपल बालिका के जीवन पर इसका चिरस्थाई प्रभाव पड़ा।

बाल्यावस्था

वीरा बाल्यावस्था से ही बड़ी होनहार थी। गुड़ियों से उसे विशेष प्रेम न था। वह बड़े-बड़े लोगों के साथ उठती-बैठती थी और उन्हीं के साथ खेला करती थी। इसलिए उसका मानसिक विकास सुचारु रूप से हुआ। उसके पिता गुलामी-प्रथा के समाप्त हो जाने पर क्रिस्टोफ़ौरोव्का में न्यायाधीश बना दिये गए थे। इसलिए उन्हें किसानों का झगड़ा चुकाना पड़ता था। वीरा नित्य उनसे किसानों के सम्बन्ध की बातें सुना करती थी और उन्हें समझने का प्रयत्न करती थी।

इस प्रकार माता-पिता के साथ अपने जीवन के ग्यारह वर्ष व्यतीत करके

के पश्चात् वीरा सन् १८६२ ई० में विद्यालय में भेजी गयी। यहाँ उसने लगभग ६ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त की। इतने समय में उसने गणित, इतिहास, साहित्य, भूगोल, धातु-विद्या, शरीर-शास्त्र ड्राइंग, वनस्पति-शास्त्र, प्राणी शास्त्र तथा भाषण-शैली आदि सभी विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया और सन् १८६९ ई० में वह प्रथम श्रेणी में ग्रेजुएट होकर विद्यालय से निकली। उस समय देश की तत्कालीन समस्याएँ शुद्ध रूप में उसके सामने आ गयीं।

शिक्षा

विद्यालय से निकल कर वीरा अपने गाँव टैटीऊशी में चली आयी। इस समय वह यौवन की सुरम्य वाटिका में विहार कर रही थी। उसका हृदय चंचल हो रहा था। पढ़-लिखकर वह क्या करे यह उसकी समझ में नहीं आया। अन्त में बहुत सोच-विचार के पश्चात् उसने डाक्टर बनना निश्चय किया। अब प्रश्न यह था कि वह डाक्टरी शिक्षा कहाँ प्राप्त करे। वह विदेशी विश्वविद्यालय में पढ़ना चाहती थी; परन्तु उसके माता-पिता इस विचार के विरुद्ध थे। अतः वह पुनः क़ैज़ाँ चली गयी।

क़ैज़ाँ प्रान्त में वीरा के पिता की फ़िलीपौव नामक एक ज़मींदार से मित्रता थी। वह स्थानीय न्यायाधीश था। यहाँ उसके ज्येष्ठ पुत्र एलेक्सी विक्टौरौविच से वीरा का परिचय हुआ। वह भी न्यायाधीश था। थोड़े ही दिनों में दोनों में मित्रता हो गयी। फलतः १८ अक्टूबर सन् १८७० ई० को दोनों का विवाह हो गया। इस घटना के कुछ सप्ताह पश्चात् वीरा के पिता का देहान्त हो गया। इसलिए दोनों निकीफ़ौरौवो में अपना घर बनाकर रहने लगे।

विवाह

विवाह के कारण वीरा के कार्य-क्रम में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पहले की अपेक्षा अब उसके लिए विश्वविद्यालय में भर्ती होना अत्यन्त सरल था। वह ज़ूरिच (स्विटज़रलैण्ड) में डाक्टरी पढ़ना चाहती थी। इस कार्य के लिए धन की बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए वह धन जमा करने में लग गयी। इसी बीच उसने जर्मन भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया और एलेक्सी को भी अपने साथ

दाम्पत्य जीवन

नौकरी छोड़कर डाक्टरी पढ़ने के लिए तैयार किया; परन्तु धनाभाव के कारण वह ज़ूरिच न जा सकी। अन्त में समय व्यतीत होते देखकर वह कैज़ाँ चली गयी।

कैज़ाँ में रसायन और शल्य-विद्या के अध्यापकों की देख-रेख में दोनों ने पढ़ाई आरंभ की। रसायन-शास्त्र के अध्यापक थे तो बड़े योग्य; परन्तु उनसे पति-पत्नी को किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं मिला। शल्य-विद्या के अध्यापक लेशाफ़्ट बड़े मिलनसार थे। उन्होंने दोनों को अच्छी तरह सहायता दी। थोड़े दिनों के पश्चात् लेशाफ़्ट क्रान्तिकारी विचारों के कारण अध्यापन-कार्य से प्रथक कर दिये गये। इस घटना से वीरा को बहुत दुःख हुआ; परन्तु उसने पढ़ना छोड़ दिया और अपनी बहन लिडिआ और पति के साथ ज़ूरिच चली गयी।

कैज़ाँ से ज़ूरिच पहुँचने पर युवती वीरा के सामने एक नयी दुनिया आ गयी। वहाँ उसे ऐसे साधन उपलब्ध हो गये जिनसे विचारों के विकास में उसे बड़ी सहायता मिली। वह महिलावाद-विवाद क्लब में भाग लेने लगी और 'फ्रीची क्लब' में साम्यवाद का इतिहास अध्ययन करने लगी। इसके साथ ही साथ विश्वविद्यालय की पढ़ाई भी जारी रही; परन्तु यह क्रम अधिक दिनों तक न चल सका। तत्कालीन सरकार ने एक अपमानजनक विज्ञप्ति निकालकर विद्यार्थियों को विश्वविद्यालय छोड़ने के लिए विवश कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसे ज़ूरिच-विश्वविद्यालय छोड़कर बर्न-विश्वविद्यालय में डाक्टरी पढ़ने के लिए जाना पड़ा।

साम्यवाद का प्रचार

इस समय रूस में क्रान्तिकारी दल बड़ी तत्परता से कार्य कर रहा था। उसका अपना मासिक पत्र था जो श्रमजीवी (दि वर्कर) के नाम से निकाला जाता था। यह पत्र विदेश में प्रकाशित होता था। इसका उद्देश्य जनता में शान्तिमय उपायों से साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रचार करना था। क्रान्तिकारी-दल के सदस्य कारखानों के केन्द्रों में विभाजित हो गये थे। उन केन्द्रों से वह लोग इस पत्र द्वारा

क्रान्ति के पथ पर

अपने विचारों का प्रचार करते थे। ऐसे समय में वीरा की वहाँ बड़ी आवश्यकता थी। इसलिए वह बर्न छोड़कर मास्को चली गयी। वहाँ वह लुक-छिपकर अपना काम करती थी। यद्यपि इस समय क्रान्तिकारी दल की रूप-रेखा उचित रूप से निश्चित नहीं हुई थी, तथापि सामानाधिकार के विचार जनता के हृदय में घर करते जा रहे थे। वीरा इस दिशा में जी-जान से प्रयत्न कर रही थी। वह अपने दल की प्रमुख संचालिका थी और जेल में रहनेवाले लोगों से मिलने-जुलने का काम किया करती थी। सारा दिन उसे संकेत-लिपि में पत्र लिखने में ही व्यतीत कर देना पड़ता था। इस प्रकार मास्को में कुछ दिनों तक रहने के पश्चात् वह यरोस्लाव चली गयी।

यरोस्लाव में रहकर उसने अस्पतालों में जाना आरंभ कर दिया। छः सप्ताह के पश्चात् वह मेडिकल-बोर्ड की परीक्षा में बैठी और विशेष योग्यता के साथ पास हो गयी। इस समय उसका कौटुम्बिक जीवन बड़ा कटु हो रहा था। उसके पति उसके विचारों से उदासीनता दिखा रहे थे। अतः वह क़ैजाँ चली गयी। वहाँ पहुँचकर उसने अपने पति से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और सेंट पीटर्सबर्ग चली आयी। यहाँ उसने धात्री की परीक्षा पास की। इस प्रकार २४ वर्ष की अवस्था मे उसने अपने मार्ग के सभी रोड़े दूर करके क्रान्तिकारी आन्दोलन से सम्बंध स्थापित कर लिया।

पति-परित्याग

यह सन् १८७६ ई० का समय था। रूस का क्रान्तिकारी-दल दो भागों में विभाजित हो गया था। एक ओर उत्तर में कुछ ऐसे कार्यकर्ता थे जो जनता में साम्यवादी सिद्धान्तों और आदर्शों का प्रचार करना चाहते थे। दूसरी ओर दक्षिण में विद्रोहियों का एक दल था जो यह अनुमान करता था कि जनता सामाजिक क्रान्ति के लिए बिलकुल तैयार है। अतः इस वर्ग के लोगों ने जनता में आन्दोलन करना, अशान्ति फैलानेवाली अफ़वाहें उड़ाना, डाका डालना, राजसिंहासन के लिए दावेदार खड़ा करना इत्यादि का आश्रय लिया।

क्रान्ति में योग

उत्तर में क्रान्तिकारी आन्दोलन अच्छे ढंग से चल रहा था। उसमें अनुभवी कार्यकर्ताओं का हाथ था। सन् १८७६ ई० में इस दल ने 'लैंड एण्ड फ्रीडम' (भूमि और स्वतंत्रता) के नाम से एक नयी समिति बनायी। इसकी स्थापना में वीरा फ़िगनर का भी हाथ था। कुछ दिन कार्य करने के पश्चात् यह दल दो भागों में विभाजित हो गया। कुछ लोग सेंट पीटर्सबर्ग में रह गये; कुछ सैराटोव और एस्ट्रखान चले गये। वीरा का दल जो 'सेपरे-टिस्ट' के नाम से प्रख्यात हुआ समारा प्रान्त की ओर चला गया।

सन् १८७७ ई० में वीरा समारा पहुँची। वहाँ वह एक डाक्टर के साथ काम करने लगी। उन्होंने उसे एक बड़े गाँव में भेज दिया। वह प्रति मास गाँवों में घूमकर जनता में औषधियाँ वितरण करती थी। इसके पहले वह कभी जनता के सम्पर्क में नहीं आयी थी। उसने उनके सम्बंध में पुस्तकों द्वारा ज्ञान प्राप्त किया था। अब उसे अपनी आँखों पीड़ित जनता की दशा देखने का अवसर मिला। उसने देखा कि किस प्रकार शोषक वर्ग किसानों को कष्ट दे रहे हैं। उनके पास न तो अच्छे मकान हैं, न वस्त्र और न भर-पेट भोजन के लिए उचित सामग्री। यह दशा देखकर उसकी आत्मा अत्यन्त दुखी हुई। कभी-कभी वह दवा बाँटते समय उनकी दशा पर रोने लगती थी।

किसानों में प्रचार-कार्य

तीन महीने उसने इसी प्रकार व्यतीत किये। अन्त में एक क्रान्तिकारिणी महिला के गिरफ़्तार होने पर वह वहाँ से वौरोंने चली गयी; परन्तु थोड़े ही दिनों के पश्चात् उसे सेंट पीटर्सबर्ग जाने के लिए विवश होना पड़ा। बात यह थी कि बहुत से लोग जेल से छूट कर आगये थे और इस बात के लिए प्रयत्नशील थे कि एक क्रान्तिकारी-संघ स्थापित हो जाय। कुछ लोगों ने मिल-कर एक कार्य-क्रम बनाया जिसके अनुसार ऐसी जगहों पर काम करने का प्रबन्ध किया गया जहाँ किसानों से सम्बन्ध स्थापित हो सके। वीरा को पैट्रो-वस्करक में कार्य करने का भार सौंपा गया। उसकी बहन इवजोनिया भी उसके साथ हो गयी। उसने भी डाक्टरी की परीक्षा पास की थी। अतः दोनों ने मिलकर वहाँ प्रशंसनीय कार्य किया।

उन्होंने किसानों के बालक-बालिकाओं के लिए एक स्कूल भी खोल दिया जिसमें उसकी बहन निःशुल्क शिक्षा दिया करती थी। विद्यार्थियों को पुस्तकें भी बिना मूल्य दी जाती थीं। डाक्टर के झोंपड़े ही में स्कूल और अस्पताल था। दोनों काम एक साथ चलते रहते थे। रात को इन कामों से छुट्टी पाकर देवी वीरा किसानों के घर जाती थी और उनके दुःख-सुख में भाग लेकर उन्हें सान्त्वना देती थी। किसान उसे अपना समझकर हृदय की सारी बातें उससे कह देते थे। वीरा भी उनके साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करके बड़ी प्रसन्न रहा करती थी।

जनता में इस प्रकार घुल-मिल जाने के कारण ज़िले के पादरियों को वीरा के आचरण पर संदेह हो रहा था। वह लोग उसके विरुद्ध भाँति-भाँति की अफ़वाहें उड़ा रहे थे। किसानों को इन बातों से बड़ा दुःख होता था। वह लोग वीरा के विरुद्ध कोई अनुचित बात सुनने के लिए तैयार नहीं थे। यही कारण था कि जब २५ अप्रैल को सेंट पीटर्सबर्ग में समर-गार्डन के पास सोलोयेव ने एलेक्ज़ेण्डर द्वितीय की हत्या करने का असफल प्रयत्न किया तब इस मामले की जांच होने पर उन्होंने वीरा के विरुद्ध कोई बात नहीं कही। फिर भी वीरा उनके बीच अधिक दिनों तक न रह सकी। उसे सेंट पीटर्सबर्ग चला जाना पड़ा।

सोलोयेव के असफल उद्योग के बाद शहर और गाँवों के क्रान्तिकारी दलों में बड़ा मन-मुटाव उत्पन्न हो गया था। इस मन-मुटाव को दूर करने के लिए बड़ा प्रयत्न किया गया, परन्तु कोई सफलता नहीं मिली।

दलबन्दी लैण्ड और फ़्रीडम (भूमि और स्वतंत्रता) पार्टी अब तक एक उद्देश्य से कार्य कर रही थी। वह भी दो दलों में विभाजित हो गयी। एक दल के समर्थकों ने अपने दल का नाम 'ब्लैक पार्टीशन' और दूसरे दलवालों ने अपने दल का नाम 'जनता की आकांक्षा' (दि विल आव दि पीपुल) रख लिया था। वीरा दूसरी पार्टी में सम्मिलित हो गयी। इस दल के नये सिद्धान्त थे और नयी विचार-धारा थी। पहला दल पूँजीवादियों के विरुद्ध आर्थिक युद्ध छेड़ देने के लिए अपने आपको संगठित

करने की आवश्यकता पर अधिक ज़ोर देता था। दूसरा दल लोगों के जीवन की प्रत्येक दिशा पर केन्द्रीय राज-सत्ता का प्रभाव डालने का प्रयत्न करता था। बात यह थी कि रूस की प्रजा एक टैक्स देनेवाली जाति के रूप में परिणत कर दी गयी थी। बजट का ८०-६० प्रतिशत निर्धन किसानों का ख़ून चूस कर उगाहा जाता था और सरकार उस बजट का अधिकांश रुपया अपने स्वार्थ-साधन में लगाती थी। इन सब बातों से यह निष्कर्ष निकलता था कि जनता सरकार के लिए है सरकार जनता के लिए नहीं है। 'जनता की आकांक्षा' ने इसी राज-सत्ता के विरुद्ध आन्दोलन करना शुरू किया। सब से पहले इस दलवालों ने अपने आपको 'प्रजातंत्रवादी साम्यवादी' घोषित किया। साम्यवादी दृष्टि से उनका यह उद्देश्य था कि आर्थिक क्षेत्र की सबसे उपयोगी वस्तु—उपज और भूमि—किसानों के हाथ में चली जाय और राजनीतिक क्षेत्र में एकतन्त्र शासन के स्थान पर प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो जाय। इस उद्देश्य-पूर्ति के मार्ग में ज़ार, ज़मींदार और पादरी तीन बड़े शक्तिशाली शत्रु थे। इनसे युद्ध करने के लिए संगठन की महान् आवश्यकता थी। इसलिए इस दल को संगठित करने के विचार से समस्त देश में गुप्त-समितियों का जाल बिछा दिया और छोटे-छोटे दल स्थापित कर दिये गये। अनुशासन करने के लिए कार्य कारिणी-समिति भी बना दी गयी।

इस प्रकार जब संगठन का कार्य पूरा हो गया तब समिति के सदस्यों ने व्यावहारिक रूप से अपना क़दम आगे बढ़ाया और यह निश्चय किया कि एलेकज़ेण्डर द्वितीय के साथ ही कई मुख्य अधिकारियों की हत्या की जाय। इस निश्चय के अनुसार मास्को, ख़ार-कौव तथा ओडेसा में कार्यकर्ता नियत कर दिये गये।

ज़ार की हत्या का प्रयत्न

सितम्बर मास में वीरा ओडेसा भेजी गयी। इस कार्य में उसने जाली पासपोर्टों और झूठे नामों से बहुत काम चलाया। उसने रेलों के नीचे विस्फोटक पदार्थ बिछाकर उन्हें उड़ाने की योजना तैयार की। दो शाही गाड़ियाँ १६ सितम्बर को वहाँ से होकर निकलीं जहाँ विस्फोटक पदार्थ लगा हुआ था। पहली ट्रेन में ज़ार जा रहा था। सौभाग्य से यह ट्रेन बच गयी, लेकिन दूसरी ट्रेन उड़ा

दी गई। इसी प्रकार कई अधिकारियों की हत्या करने की योजना बनायी गयी थी; परन्तु सुअवसर न मिलने के कारण सफलता न मिल सकी। जुलाई मास में वह सेंट पीटर्सवर्ग चली गयी।

ऊपर जिन घटनाओं का उल्लेख किया गया है उनके साथ प्रजा की सहानुभूति थी। उस समय जीवन का प्रवाह इस प्रकार प्रवाहित हो रहा था कि सामयिक घटनाएँ शाही फौज़ों पर अपना कुछ-न-कुछ प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती थीं। जनता की भी यह धारणा हो चली थी कि संगठित होकर सरकार से खुलकर लोहा लिया जाय। इसका परिणाम यह हुआ कि 'जनता की आकांक्षा' ने सैनिक सगठन का कार्य आरम्भ कर दिया। चारों ओर तैयारियाँ होने लगीं। देशानुराग की भावना से भरी हुई प्रजा ने गुप्त रूप से इस कार्य में अच्छी तरह साथ दिया और थोड़े ही दिनों में बड़ी-बड़ी सेनाओं तथा तोपख़ानों में क्रान्तिकारियों का दल पहुँच गया। योरप के अन्य देशों में भी इसी प्रकार का प्रचार किया गया। वीरा वैदेशिक मंत्राणी नियुक्ति की गयी। उसने पत्र व्यवहार द्वारा अपने उद्देश्यों का ख़ूब प्रचार किया। इस प्रकार लोकमत अनुकूल बनाने के पश्चात् ज़ार की हत्या करने की बात सोची जाने लगी।

पीटर्सवर्ग के मानेज़ नामक स्थान में ज़ार कभी-कभी सैर करने जाया करता था। अतः यह निश्चय किया गया कि उसके रास्ते में एक

द्वितीय ज़ार की हत्या

पनीर की दूकान खोलकर विस्फोटक पदार्थ रख दिया जाय और जब सवारी सड़क से होकर निकले तब तुरन्त विस्फोट कर दिया जाय। फ़रवरी मास में ज़ार उधर से होकर निकला। विस्फोटक पदार्थ रखने के लिए ज़मीन तो खुद चुकी थी परन्तु उसमें विस्फोटक पदार्थ नहीं था। इसलिए ज़ार बच गया। यह उसकी हत्या का छठा असफल प्रयत्न था। इस सम्बन्ध में २१ क्रान्तिकारियों को फाँसी मिली। अतः यह निश्चय किया गया कि अब की बार जो प्रयत्न हो वह अन्तिम और सफल हो। इस कार्यक्रम के अनुसार पहली मार्च रविवार का दिन नियत किया गया। वीरा तथा अन्य क्रान्तिकारियों ने चार बम

तैयार किये और उस दिन दो बजते-बजते ग्रीनियोविट्स्की ने ज़ार पर बम फेंक दिया। दोनों बुरी तरह घायल हुए और कुछ ही घण्टों पश्चात् मर गये।

एलेकज़ेण्डर तृतीय गद्दी पर बैठा। उसके यहाँ वीरा की कमेटी ने एक पत्र भेजा। इस पत्र में उक्त दल की मनोवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से झलकती थीं। उसमें जो बातें लिखी गयी थीं उनसे विनम्रता राजनीतिक नैपुण्य और सहानुभूति का अच्छा परिचय मिलता था। यही कारण था कि पत्र प्रकाशित होने पर समस्त देश में सनसनी फैल गयी और जनता ने उसका खुलकर समर्थन किया; फिर भी इसका परिणाम कुछ न हुआ। ज़ार की हत्या के बाद ही पकड़-धकड़ आरंभ हो गयी। वीरा के कई कार्यकर्ता पकड़ लिये गये। वह अपने बचाव के लिए सेंटपीटर्सबर्ग चली गयी। तीसरी अप्रैल को यहाँ ज़ार की हत्या करने-वालों को जनसाधारण के बीच फाँसी दी गयी। फाँसी पाने वालों में एक स्त्री भी थी जिसका नाम था पैरोवस्काया। यह पहली महिला थी जो अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण फाँसी पर चढ़ा दी गयी थी।

ज़ार की हत्या के पश्चात् क्रान्तिकारी दल का केन्द्र सेंटपीटर्सबर्ग से हटाकर मास्को बना दिया गया। वीरा अपनी समिति की आज्ञा से पहले

निर्वासन का दंड

ओडेसा गयी और वहाँ छः महीने तक काम करने के पश्चात् मास्को चली आयी, परन्तु यहाँ पकड़-धकड़ के कारण काम करने की उचित व्यवस्था न हो सकी। छापाख़ाना बन्द हो गया था। उसमें काम करनेवाले तितर-बितर हो गये थे। इसलिए वह ख़ारकौव चली गयी। वहाँ जाकर वह पुलिस के पँजे में फँस गयी और गिरफ़्तार हो गयी। वह सेंट पीटर्सबर्ग भेज दी गयी और मुक़दमा होने से पहले २० महीने तक पीटर और पौल के दुर्ग में बन्दी रही। यहाँ उसे बहुत कष्ट भोगना पड़ा। वह एकान्त जीवन की आदी नहीं थी। अतः उसने पुस्तकें पढ़ना प्रारम्भ किया। राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान आदि विषयों पर उसने कई पुस्तकें पढ़ीं। १८ सितम्बर सन् १६४० ई० को उस पर जुर्म लगाया गया और २१ सितम्बर को वह दुर्ग से निकालकर

बन्दी-गृह में पहुँचा दी गयी। दूसरे दिन मुक़दमा शुरू हुआ। उसने मौखिक बयान दिया। इसका फल कुछ भी न हुआ। न्यायाधीश ने उसे फाँसी का दंड दिया। अब वह पुनः पीटर और पौल के दुर्ग में पहुँचा दी गयी। यहाँ फाँसी की सज़ा बदलकर उसे निर्वासन का दंड दिया गया और वह एक जहाज़ में बिठाकर शलूसैवर्ग पहुँचायी गयी। यहीं के दुर्ग में उसे आजीवन कारावास का दण्ड भोगना पड़ा। वह एक कोठरी में रखी गयी। उसका वातावरण बिलकुल क़ब्रस्तानी था। वह न तो किसी से मिल सकती थी और न पत्र-व्यवहार कर सकती थी।

जेल-जीवन की यातनाएँ वही पुरुष जान सकता है जिसने कभी क्रान्तिकारी की हैसियत से जेलख़ाने की हवा खायी हो। वीरा क्रान्तिकारिणी थी।

बन्दी-जीवन

उसने ज़ार की हत्या में भाग लिया था। अतएव उसे जेल में अत्यन्त कष्ट दिये गये। मानसिक वेदना के साथ ही साथ शारीरिक कष्ट भी उसे भोगना पड़ता था। वह स्वयं खेत जोतती थी, उसमें बीज बोती थी और उसकी देख-रेख रखती थी। इतने पर भी उसे रूखा-सूखा भोजन मिलता था। इस प्रकार उसने तीन वर्ष व्यतीत किये। चौथे वर्ष उसे एक कापी दी गयी। इसका वह स्वेच्छानुसार उपयोग कर सकती थी, लेकिन शर्त यह थी कि कापी भर जाने पर इन्सपेक्टर को दे दी जाय। वीरा ने उसमें कविताएँ लिखना आरम्भ किया। इससे उसकी मानसिक वेदना कुछ हलकी हो गयी। जेलख़ाने में वह अपने साथ कुछ पुस्तकें भी ले गयी थी। उन्हें वह बराबर पढ़ती रहती थी। इससे थोड़ी देर के लिए मन-बहलाव हो जाता था। २८ नवम्बर १८८६ को वह इस सुविधा से भी वंचित कर दी गयी। जेल के अधिकारियों का यह व्यवहार राजनीतिक बन्दियों को असह्य हो गया। वीरा ने अपने पाँच साथियों के साथ अनशन करना आरम्भ कर दिया। थोड़े दिनों पश्चात् एक ख़ून के कुल्ले करने लगा; दूसरा आत्महत्या करने पर उतारू हो गया और तीसरे ने भूख से विवश होकर खाना आरम्भ कर दिया। केवल दो रह गये। उनमें एक वीरा भी थी। इन दोनों ने अनशन नहीं तोड़ा; परन्तु अपने साथियों में

से तीन व्यक्तियों के पृथक हो जाने के कारण उनके हृदय पर बड़ी चोट लगी। अन्त में वीरा को भी अनशन तोड़ देना पड़ा। इसका फल यह हुआ कि अनशन करनेवालों का कुल रुपया जो बैंक में जमा था, ज़ब्त कर लिया गया। वीरा को इस घटना से बड़ा दुःख हुआ, परन्तु वह कर ही क्या सकती थी। मन मसोस कर रह गयी।

वीरा अपने साथ जेल में डाक्टरी की पुस्तकें भी ले गयी थी। इन्हें पढ़ने की उसे आज्ञा प्राप्त थी। अतएव उसने अपना मन चारों ओर से बटोर कर इन पुस्तकों के अध्ययन में लगा दिया। इसी बीच उसने भू-गर्भ-विद्या, वनस्पति-शास्त्र और प्राणि-शास्त्र की विभिन्न दशाओं का भी गहन अध्ययन कर लिया। इन सब कामों में जेल-जीवन के १३ वर्ष समाप्त हो गये। इसी बीच उसकी माता का देहान्त हो गया।

वीरा ने जेल में रहते हुए बहुत-सी बातें सीख ली थीं। वह बाग़बानी के काम में बड़ी निपुण हो गई थी। इस प्रकार २० वर्ष तक ज्ञान संचय करने के पश्चात् वह २६ सितम्बर १६०४ ई० को जेल से निकाली गयी और पुनः पीटर और पौल के दुर्ग में रहने के लिए भेज दी गई। वहाँ उसने अपने भाई-बहनों से भेंट की। यह बड़ा ही करुणाजनक दृश्य था। इतने दिनों पश्चात् अपने भाई-बहनों को देखकर वीरा के हृदय में प्रेम का ज्वार आ गया। अतीत की स्मृतियाँ एक-एक करके उसकी आँखों के सामने नाचने लगीं। वह चेतना-शून्य हो गई।

वीरा सन् १६२५ तक साइबेरिया के जेल में रहने के बाद रूस चली आयी। यहीं उसके जीवन के अन्तिम दिन व्यतीत हुए। वह लगभग ४० वर्ष तक जेल की यातनाएँ सहने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुई। उसने अपने त्याग और बलिदान से रूस में जो क्रान्ति उत्पन्न की, उसने ज़ार के अत्याचारों का अन्त कर दिया। आज रूस स्वतन्त्रता के वायुमण्डल में साँस ले रहा है। वहाँ के किसान और श्रमजीवी सुख से जीवन व्यतीत कर रहे हैं। वे अतीत काल के सभी कष्ट भूल-से गये हैं; परन्तु देवी वीरा की याद उनमें अब भी शेष है।

एमा गोल्डमैन

एक थी बालिका। बड़ी चंचल बड़ी भावुक। दिन-भर खेलती थी। थकने का नाम नहीं लेती थी। माँ दरिद्र थी। न घर में खाने के लिए अन्न था, न टेंट में पैसा। बालिका खिलौनों के लिए जब कभी मचल जाती थी, माँ की आँखों में आँसू भर आते थे। वह हठ करती थी, रोते-रोते सारा घर सर पर उठा लेती थी। इतना चीखती थी, इतना चिल्लाती थी कि सब का नाक में दम हो जाता था। समझाना बुझाना व्यर्थ, वह क्या समझे दरिद्रता किसे कहते हैं, ग़रीबी क्या है, अमीरी क्या है। उसके पड़ोस के साथियों को क्यों खिलौने मिल जाते हैं वह क्यों नहीं पाती। क्या जाने वह इस रहस्य को। उसे तो खिलौनों से मतलब। चाहे जैसे मिलें। पिता भी उसकी नासमझी पर बिगड़ बैठते थे, रोष से तमतमा उठते थे और वह अबोध बालिका अच्छी तरह ठोंकी जाती थी। एक बार नहीं दिन में कई बार। न वह माँगना छोड़ती थी, न वह पीटना छोड़ते थे। संसार में एमा के समान बहुत-सी बालिकाएँ हैं, परन्तु एमा की कहानी उन सब से विचित्र है।

एमा गोल्डमैन का जन्म सन् १८६६ ई० में रूस में हुआ था। उसके माता-पिता बड़े दरिद्र थे। इसलिए बाल्यावस्था ही से उसे विपत्तियों का सामना करना पड़ा। जब एमा चार वर्ष की हुई तब उसके भाई हर्मन का जन्म हुआ। निर्धन परिवार में एक जीता-जागता खिलौना आ गया। इस खिलौने ने उसकी साध पूरी कर दी। वह उसे ख़ूब खिलाती थी। एक दिन माँ बच्चे को एमा के पास सुलाकर कहीं चली गई। थोड़ी देर बाद बच्चा रोने लगा। उसके भूखे होने की मधुर कल्पना करके बालिका एमा ने उसे अपनी गोद में उठा लिया और उसके नन्हें मुख को अपने स्तन से लगाकर दूध पिलाने

बाल्यावस्था

लगी। इस प्रकार उसने बच्चे को फुसलाने की बड़ी कोशिश की, परन्तु उसका यह प्रयत्न निष्फल रहा। बच्चा और भी रोने लगा। इतने में माँ आ गयी। एमा पर डाँट पड़ी। उसने सारा क़िस्सा बता दिया। माँ हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई। एमा के शिशु-जीवन की यह कोमल कल्पना कितनी सुन्दर थी।

अमेरिका की ओर प्रस्थान

एमा अपनी माता से अधिक हिली रहती थी। पिता का उस पर स्नेह नहीं था, इसलिए उसकी शिक्षा का कोई उचित प्रबन्ध न हो सका। उसने अपनी बड़ी बहन हेलना से थोड़ा पढ़ना-लिखना सीखा था। परिवार में बड़ी बहन ही का उस पर सब से अधिक स्नेह था। पिता बड़े क्रूर स्वभाव के थे। एमा बड़ी चंचल और स्वतंत्र विचार की थी। वह किसी का कहना नहीं मानती थी। इसलिए उस पर काफ़ी मार पड़ती थी। उसे कठोर-से-कठोर दण्ड दिए जाते थे, परन्तु न तो वह अपनी आदत से बाज़ आती थी और न पिता के हृदय में उसके प्रति प्रेम का उद्रेक होता था। सच तो यह था कि पिता उससे घृणा करता था। एमा धैर्यपूर्वक सब यातनाएँ सहन करती थी। वह पिता का प्यार पाने की बहुत चेष्टा करती थी, परन्तु सब व्यर्थ। अन्त में अपने माता-पिता और अपने देश रूस को छोड़कर सन् १८८५ ई० में अपनी बहन हेलना के साथ वह अमेरिका चली गयी।

अमेरिका पहुँचकर उसने रोचेष्टर में दर्जिन का काम करना शुरू किया। वह साढ़े दस घण्टे कठिन परिश्रम करती थी और एक रुपया पाती थी। अमेरिका के दैनिक जीवन में एक रुपये से काम नहीं चल सकता। अतएव उसे बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत करना पड़ता था। उसके दो वर्ष इसी प्रकार व्यतीत हो गये।

विवाह और पति-परित्याग

एक दिन एमा के पाँव और रीढ़ की हड्डियों में असह्य पीड़ा होने लगी। वह तुरन्त एक डाक्टर के पास गयी। डाक्टर ने आपरेशन की सलाह दी और कहा कि इसका आपरेशन कराने के पश्चात् उसमें गर्भधारण करने की शक्ति आ जायगी। एमा यह सुनकर सिहर उठी। दरिद्र होकर सन्तान की

लालसा ! उसे अपने जीवन की घटनाएँ याद थीं। वह जानती थी कि एक खिलौना के लिए उसे कितनी मार खानी पड़ती थी। इसके अतिरिक्त उसने अपनी आँखो सहस्रों बच्चो का संकटमय जीवन देखा था। उसने ग़रीबों के बच्चों को दाने-दाने के लिए छटपटाते और तड़पते हुए देखा था। ऐसी दशा में वह सन्तान पैदा करके भूखों मरनेवाले बच्चों की संख्या नहीं बढ़ाना चाहती थी। यह सोचकर उसने आपरेशन कराने से इनकार कर दिया। डाक्टर आश्चर्य में पड़ गया। वह कुछ बोल न सका।

इस समय एमा की अवस्था २०-२१ वर्ष की थी। सन् १८८७ में जेकब कार्शनिर के साथ उसका विवाह हुआ था। वह नपुंसक था। विवश होकर एमा को तलाक़ देना पड़ा। इसके पश्चात् वह स्वतंत्र हो गयी। उसे न तो पति की चिन्ता थी और न पुत्र की। वह अपने ध्येय की ओर तेज़ी से बढ़ना चाहती थी।

इतवार का पुण्य दिवस था। पाँच अराजकवादियों को हड़तालियों का अगुआ बनने के अपराध में फाँसी की सज़ा होनेवाली थी। चारों ओर व्याख्यान हो रहे थे। एमा के नगर में भी न्यूयार्क से हना अराजकता के पथ पर ग्रेई व्याख्यान देने के लिए आयी थीं। वह उनका व्याख्यान सुनने के लिए गयी। भाषण समाप्त होने के पश्चात् हना ग्रेई ने सहस्रों मुख-मण्डलों पर विषाद की रेखा देखी; परन्तु एमा के मुख-मण्डल पर पहुँचकर उसकी दृष्टि रुक गयी। श्रोताओं में सब से अधिक वही प्रभावित हुई थी। उसके शरीर का रोम-रोम उस करुणोत्पादक घटना से रो रहा था। हना ग्रेई ने उसे अपने पास बुलाया और उसके कन्धों पर हाथ रखकर सान्त्वना दी। इसके बाद वह घर चली गयी। उसकी बहन हेलेना सो रही थी। एमा ने उसे जगाया और भाषण का एक-एक शब्द, ज्यों का त्यों, सुना दिया। वह भी बहुत प्रभावित हुई। इसके बाद एमा चुपचाप लेट रही।

उपर्युक्त घटना के कुछ दिनों पश्चात् अराजकवादियों को फाँसी दे दी गयी। हेलेना फूट-फूट कर रोई। एमा की आँखों से एक अश्रुबिन्दु भी न

निकला। उसे काठ मार गया। उसने रोने की बहुत चेष्टा की; परन्तु न रो सकी। वह खाट पर जाकर लेट रही। वहाँ रोते-रोते वह सो गयी। प्रातः काल जब वह उठी तब उसने अपने शरीर में एक नवीन स्फूर्ति अनुभव की। उसी समय उसने अपना मार्ग निश्चित किया। वह अराजकवादी हो गयी।

थोड़े दिन बाद एमा का परिचय बर्कमैन से हुआ। बर्कमैन का जन्म रूस मे हुआ था। वह भी अराजकवादी था, इसलिए एमा और बर्कमैन में घनिष्ठ मित्रता हो गयी। दोनों एक दूसरे से ख़ूब हिल-मिल गये। सन् १८६२ मे पिट्सबर्ग की कार्नेगी स्टील कम्पनी के मज़दूरों ने हड़ताल की। कम्पनी के तत्कालीन मैनेजर ने उन मज़दूरों के साथ बड़ी क्रूरता का व्यवहार किया। बर्कमैन इन अत्याचारों को सहन न कर सका। वह तुरन्त अपने नगर से पिट्सबर्ग के लिए रवाना हुआ। वहाँ पहुँचकर उसने मैनेजर पर धाँय-धाँय तीन गोलियाँ चला दीं। मैनेजर बच गया; परन्तु बर्कमैन को २२ वर्ष के लिए कठिन कारावास का दंड मिला। वह जेल में ठूँस दिया गया। एमा अकेली रह गयी, फिर भी वह अपना कार्य करती रही। उसने कभी विश्राम नहीं लिया। पुलिस एमा के विषय में बड़ी सतर्क रहती थी। उसने एमा के घर की तलाशी भी ली; परन्तु उसे कोई आपत्तिजनक वस्तु नहीं मिली। घर में था ही क्या जो उसे मिलता।

एमा के हृदय में लगन था। प्रकृति ने उसकी वाणी में जादू का-सा असर दिया था। लाखों पुरुषों की सभा में वह शेरनी की तरह गरजती थी और अपने ओजस्वी भाषण द्वारा सबको प्रभावित कर देती थी। वह

बन्दी-जीवन

हड़ताल करनेवाले मज़दूरों में जिस समय बोलने के लिए खड़ी होती थी उस समय पुलिसवालों में तहलका मच जाता था और जनता पर आतंक छा जाता था। कोई कहता था—वह बम बनाती है, कोई कहता था—वह हत्याएँ करती है। इन्हीं समाचारों और अफ़वाहों पर विश्वास करके पुलिस ने सन् १८६४ ई० में उस पर मुक़दमा चलाया और एक वर्ष के लिए जेल में बन्द कर दिया।

१८६५ ई० में वह जेल से छूटी। अब उसने नर्स का काम सीखने का निश्चय किया। राजनीतिक कार्य के लिए धन की आवश्यकता पड़ती थी। एमा के पास एक कौड़ी भी नहीं थी। कभी-कभी तो उसे भोजन के लाले पड़ जाते थे। ऐसी अवस्था में कुछ-न-कुछ काम करना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक था। अतएव वह अपने मित्रों के साथ वियना चली गयी। वहाँ वह नर्स का काम सीखने लगी। पुलिस के सन्देह के भय से वहाँ उसने अपना असली नाम छिपाकर मिसेज़ ई० जी० ब्रेडी रख लिया था। अमेरिका से लौटकर उसने अपनी जीविका के लिए यही काम करना आरम्भ कर दिया। फिर भी उसके समय का अधिक भाग राजनीतिक कार्यों में ही व्यतीत होता था। वह अपने धुन की इतनी पक्की थी कि उसने कारख़ानों में मज़दूरी की; घर पर शाल-दुशाले बुने; मालिश की दूकान खोली; दर्जिन का काम किया और अन्त में नर्स का पेशा अख़्तियार किया; परन्तु फिर भी यथेष्ट धन प्राप्त न हो सका। जिन डाक्टरों के साथ वह काम करती थी वही उससे भय खाने लगते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि उसने नर्स का पेशा छोड़कर पुनः दर्जिन का कार्य आरम्भ कर दिया। कुछ दिन इसी तरह बीते। सन् १६०६ ई० में बर्कमैन जेल से छूटकर आ गये। अब एमा को एक साथी मिल गया। अतएव वह पुनः अपने उद्देश्य की ओर अग्रसर हो गयी।

नर्स का कार्य

बर्कमैन का स्वास्थ्य जेल में बिलकुल ख़राब हो गया था। वह पागल-से हो गये थे। एमा ने दिन-रात उनकी बड़ी सेवा की। इससे उनके प्राण बच गये। अब दोनों ने नये उत्साह से पुनः अपना कार्य आरम्भ कर दिया। मार्च सन् १६०६ ई० में एमा ने 'मदर अर्थ' (धरती माता) नाम की एक मासिक पत्रिका निकाली। ११ वर्ष तक इस पत्रिका ने अपने सिद्धान्तों का ख़ूब प्रचार किया। महायुद्ध के दिनों में अमेरिका की सरकार ने इसका अन्त कर दिया और जून सन् १६१७ ई० में युद्ध-विरोधी भाषण देने के अभियोग में उन दोनों पर मुक़दमा चलाया। दोनों को दो-दो वर्ष की कड़ी क़ैद और दस

बन्दी-जीवन

हज़ार डालर जुर्माने का दंड मिला।

सितम्बर सन् १६१६ ई० में दोनों साथी जेल से छूटकर बाहर आये। अमेरिका की सरकार उनके कार्यों से अत्यन्त असन्तुष्ट थी। इसलिए उसने उसी वर्ष २० सितम्बर को उन्हें निर्वासन का दंड दिया।

रूस में आगमन २८ दिन की कठिन यात्रा के पश्चात् दोनों रूस पहुँचे। इस समय एमा ५० वर्ष की थी। अपने जीवन के ३४ वर्ष उसने अमेरिका में व्यतीत किये थे।

एमा में अब भी युवतियों का-सा उत्साह था। जीवन को नये सिरे से आरम्भ करने की उसमें प्रबल उत्कण्ठा थी। वह रूस की कुछ सेवा करना चाहती थी; परन्तु यहाँ आने पर उसकी सारी आशाएँ निराशा में परिणत हो गयीं। अमेरिका में रहने के कारण उसे अँगरेज़ी बोलने का अभ्यास हो गया था, इसलिए उसे अपनी मातृ-भाषा सीखने में बड़ी कठिनाई हुई; परन्तु धीरे-धीरे उसने रूसी भाषा बोलने का अच्छा अभ्यास कर लिया। वह यहाँ दो वर्ष तक रही। इसी बीच उसने लिट्वीनाफ़, गोर्की, लेनिन तथा प्रिंस क्रोपाटकिन आदि से अच्छा परिचय प्राप्त कर लिया। उस समय बोल्शेविक सरकार की ख़ुफ़िया पुलिस बहुत अत्याचार कर रही थी। अराजकवादियों की जान के लाले पड़े रहते थे।

रूस में एमा क्रोपाटकिन की बातों से अधिक प्रभावित हुई थी। उस समय ७७ वर्ष का वह तपस्वी बड़े संकट में था। पुलिस उसके दरवाज़े पर दिन-रात बैठी रहती थी। बाहर जाकर अपने मित्रों से मिलना-जुलना उसके लिए कठिन हो रहा था। पुष्टिकर भोजन भी उसे नहीं मिलता था। वह ऐसे संकट में था कि उसने नीति-शास्त्र पर अपनी पुस्तक धुँधले दीपक की ज्योति में बैठकर लिखी थी। ७७ वर्ष के वृद्ध का यह साहस देखकर एमा अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गयी। वह क्रोपाटकिन को अपना आचार्य मानती थी। ८ फ़रवरी सन् १६२१ ई० को उस महान आत्मा ने इस संसार से विदा होते समय एमा की याद की। एमा दो घण्टे के पश्चात् आयी। उस समय दीपक बुझ चुका था। एमा रोकर रह गयी। वह अब रूस में न रह सकी।

एक दिन वह बर्कमैन के साथ भाग खड़ी हुई और कई देशों की ख़ाक छानने के पश्चात् जर्मनी पहुँची। जुलाई सन् १६२४ ई० तक वहाँ रहने के पश्चात् वह इँग्लैएड चली आयी।

इस समय एमा ५५ वर्ष की थी। इँग्लैएड आने पर उसके सामने फिर एक कठिन समस्या उपस्थित हो गयी। वह अविवाहिता थी। अविवाहिता स्त्रियों को किसी देश में रहने की आज्ञा नहीं थी।

पुनर्विवाह

इसीलिए वह रूस से भागी थी। अमेरिका से भी वह इसीलिए निकाली गयी थी। विवश होकर नागरिक बनने के लिए उसने जेम्स काल्टन से विवाह कर लिया और वह ब्रिटिश नागरिक बन गयी। इसके बाद वह अमेरिका चली गयी। कनाडा उसका स्थायी निवास-स्थान बन गया। कह नहीं सकते, इस समय वह कहाँ है और क्या कर रही है।

महारानी एलिज़बेथ

रोज़ेज का युद्ध समाप्त हो चुका था। वैरनों की शक्ति क्षीण हो चुकी थी। ट्यूडर-वंश का बोल-बाला था। पोप की प्रधानता का अन्त हो चुका थ। ऐसे समय में इँग्लैण्ड का शासन-सूत्र जिस स्त्री के हाथ में आया उसका नाम था एलिज़बेथ।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

एलिज़बेथ ट्यूडर-वंशीय हेनरी अष्टम की पुत्री थी। हेनरी ने छः विवाह किये थे। एलिज़बेथ उसकी दूसरी पत्नी, एनबोलीन की पुत्री थी और सितम्बर सन् १५३३ ई० में उत्पन्न हुई थी। इँग्लैण्ड के इतिहास में यह समय धार्मिक उन्माद का युग था। कैथरिन (हेनरी अष्टम की प्रथम पत्नी) के परित्याग से पोप असंतुष्ट हो गया था। पार्ल्यामेण्ट बादशाह की अनुमति पर चल रही थी। उसने १५३४ ई० में एक क़ानून पास करके एलिज़बेथ के उत्तराधिकार का प्रश्न हल कर दिया था; परन्तु कुछ लोग ऐसे भी थे जो इस क़ानून के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि हेनरी अष्टम का विवाह एनबोलीन के साथ विधि विहित नहीं है। इन झगड़ों के कारण एलिज़बेथ का शिशु-जीवन संकटापन्न हो रहा था। तीन वर्ष की अवस्था में तो उसके दुःख की सीमा नहीं रही।

माता की मृत्यु

एलिज़बेथ पुत्री थी, यही उसका दोष था। हेनरी अष्टम पुत्र-प्राप्ति का लोभ संवरण नहीं कर सकता था। इसलिए उसने ऐनबोलीन पर झूठा दोष लगाकर सन् १५३६ ई० में उसे मौत के घाट उतार दिया। दुधमुँही बालिका एलिज़बेथ मातृ-स्नेह से वञ्चित हो गयी। इस घटना के १० दिन बाद हेनरी ने जॉन सीमोर से विवाह कर लिया। मैरी (कैथरिन की पुत्री) और एलिज़बेथ का उत्तराधिकारत्व नष्ट कर दिया गया। जॉन सीमोर का पुत्र, एडवर्ड षष्ठ, उत्तराधिकारी हुआ। सन् १५४७ ई० में हेनरी अष्टम की मृत्यु के पश्चात्

वही राजसिंहासन पर बैठा।

एडवर्ड षष्ट दस वर्ष का बालक था। इसलिए उसके संरक्षकों ने मनमानी नीति से काम लेना शुरू कर दिया। स्वेच्छाचारिता का साम्राज्य स्थापित हो गया। मेरी के पक्ष में आवाज़ें उठने लगीं और १५५३ ई० में एडवर्ड की असामयिक मृत्यु के पश्चात् वही सिंहासनारूढ़ हुई। वह कैथालिक धर्मावलम्बिनी थी। मार्टिन लूथर के सुधारों को वह फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहती थी। इसलिए प्रोटेस्टेएट धर्मावलम्बियों के साथ उसकी बिलकुल सहानुभूति नहीं थी। इसी विचार से प्रेरित होकर उसने एलिज़बेथ पर षड्यंत्र का झूठा दोष लगाया और टावर के बन्दी-गृह में डाल दिया। इन अत्याचारों से जनता भयभीत हो गयी। सौभाग्य से १५५८ ई० में उसकी भी मृत्यु हो गयी। मेरी की मृत्यु के पश्चात् एलिज़बेथ के दिन लौटे। वह टावर से निकाली गयी और बड़े धूमधाम के साथ राज-सिंहासन पर बिठायी गयी।

बन्दी जीवन और राज्याभिषेक

एलिज़बेथ बड़ी उदार स्त्री थी। बाल्यावस्था ही से वह दुःख झेल रही थी। इसलिए उसके चरित्र में सहिष्णुता और आत्म बल का यथेष्ट समन्वय हुआ था। उसके स्वभाव में ऐनबोलीन की विलासिता और हेनरी अष्टम की खुशामद पसन्दी थी। वह हठी और घमंडी भी थी। अपने आगे किसी की कोई बात नहीं लगने देती थी। वह चतुर, धीर, परिश्रमी और दूरदर्शी थी। स्वार्थ-सिद्धि के लिए वह बुरे-से-बुरे उपाय काम में लाने से कभी संकोच नहीं करती थी। वह विदुषी थी। कई भाषाओं का उसे अच्छा ज्ञान था। वह विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार करती थी। अपने देश और प्रजा की भलाई के लिए वह सदैव तत्पर रहती थी।

चरित्र

जिस समय एलिज़बेथ सिंहासनारूढ़ हुई उस समय इँग्लैएड अपने आन्तरिक झगड़ों में फँसा हुआ था, और फ्रांस तथा स्पेन उसके विरुद्ध षड्यंत्र रच रहे थे। एलिज़बेथ इन झगड़ों को सदैव के लिए समाप्त करके देश को प्रगतिशील बनाना चाहती थी। भाग्यवश उसे विलियम सिसिल-जैसा व्यवहार-

कुशल, दूरदर्शी तथा राजनीतिज्ञ मंत्री भी मिल गया था। वह सच्चा राज-भक्त था। लगभग ४० वर्ष तक उसने एलिज़बेथ की सेवा की।

एलिज़बेथ के सामने सबसे जटिल प्रश्न धार्मिक समस्या का था। देश में अधिकतर जनता केथालिक धर्मावलम्बिनी थी; परन्तु प्रोटेस्टेण्टों की संख्या भी दिन-प्रति-दिन बढ़ती जाती थी। इन दोनों के झगड़ों का निर्णय करना कोई सरल कार्य नहीं था। एलिज़बेथ किसी के पक्ष में नहीं थी। वह इस प्रश्न को राजनीतिक दृष्टि से सुलझाना चाहती थी। पोप उसे अनौरस सन्तान समझता था। इसलिए केथालिक धर्मावलम्बी उसके विरुद्ध थे। विवश होकर उसे प्रोटेस्टेण्टों के पक्ष में जाना पड़ा; परन्तु वह केथालिक मतावलम्बियों को भी असन्तुष्ट करना नहीं चाहती थी। अतः उसने धर्म-सम्बन्धी प्रबंध में मध्यम मार्ग का अनुसरण किया। उसने सन् १५५६ ई० में पार्ल्यामेंट से चर्च की प्रधानता का राज-नियम स्वीकृत कराया। इस नियम के अनुसार वह चर्च की अधिष्ठात्री नियुक्त की गयी। पोप की सत्ता सदैव के लिए देश से उठ गयी। इसके पश्चात् कई राज-नियम और बनाये गये। इन नियमों के अनुसार प्रोटेस्टेण्ट-पूजा-विधि प्रचलित की गयी। एडवर्ड षष्ट की प्रार्थना-पुस्तक में संशोधन किया गया और ४२ धारावाले नियम के स्थान पर उन्तालीस धारावाला राज-नियम चालू किया गया। पादरियों को विवाह करने की आज्ञा मिल गयी। इन सुधारों के आधार पर एँग्लिकन चर्च की स्थापना हुई। राज-दंड के भय से लोग इस चर्च में जाने लगे।

धार्मिक प्रश्न

एलिज़बेथ उदार महिला थी। उसने सबको धार्मिक स्वतंत्रता दे दी थी, फिर भी कुछ कट्टर केथालिक और प्रोटेस्टेण्ट उसकी नीति के विरुद्ध थे। यह लोग एँग्लिकन चर्च के विरुद्ध आन्दोलन करते थे। अतएव एलिज़बेथ ने उन्हें दंड देने के लिए एक विशेष न्यायालय खोल दिया था। इस प्रकार उसने अपने बुद्धि-बल से धार्मिक प्रश्न को सुलझाने में बड़ी सफलता प्राप्त की। देश में शान्ति स्थापित हो गयी और प्रजा सुखपूर्वक रहने लगी।

एलिज़बेथ के तीन विदेशी शत्रु थे। स्पेन, फ्रांस और स्काटलैण्ड की

रानी मेरी। एलिज़बेथ इन तीनों में से किसी से भी युद्ध करना नहीं चाहती थी। उसके पास न तो पर्याप्त धन था और न सेना थी। इसलिए वह अपने शत्रुओं को उन्हीं के आन्तरिक झगड़ों से लाभ उठाकर मारना चाहती थी।

विदेशी शत्रुओं का प्रश्न

एलिज़बेथ की सब के कट्टर शत्रु स्काटलैण्ड की रानी मेरी थी। उसका विवाह फ्रांस के बादशाह द्वितीय फ्रांसिस से हुआ था। वह वहीं अपने पति के साथ रहती थी। उसकी माता मेरी आफ़ गाइज़ हेनरी सप्तम की पुत्री थी। मेरी आफ़ गाइज़ का विवाह स्काटलैण्ड के जेम्स पंचम से हुआ था। इस नाते मेरी अपने आपको इङ्गलैण्ड के राज-सिंहासन की वास्तविक उत्तराधिकारिणी समझती थी। वह फ्रांस में रहने के कारण केथालिक हो गयी थी। इसलिए रोम का पोप उसके विचारों से भलीभाँति सहमत था।

रानी मेरी का परिचय

सौभाग्य से इसी समय स्काटलैण्ड में धार्मिक आन्दोलन छिड़ गया। कालविन और केथालिक-सम्प्रदायवालों में घोर मत-भेद के लक्षण दिखायी देने लगे। यद्यपि एलिज़बेथ कालविन-सम्प्रदाय के विरुद्ध थी, तथापि उसने सामयिक परिस्थितियों से लाभ उठाकर फ्रांस के तत्कालीन शासक द्वितीय हेनरी से संधि कर ली और स्काटलैण्ड की ओर रुख किया। १५५६ ई० में द्वितीय हेनरी की मृत्यु हो गयी और उसका पुत्र द्वितीय फ्रांसिस सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने एलिज़बेथ के विरुद्ध स्काटलैण्ड की सहायता की। अन्त में उसे हारना पड़ा। उसने एलिज़बेथ से संधि कर ली और उसके उत्तराधिकारत्व को स्वीकार कर लिया। दैवयोग से सन् १५६० ई० में उसकी भी मृत्यु हो गयी। विधवा मेरी स्काटलैण्ड चली आयी। उसकी अनुपस्थिति में उसकी माता मेरी आफ़ गाइज़ शासन का कुल काम करती थी।

अब मेरी ने अपने कन्धों पर समस्त भार ले लिया। उसने अपने चचेरे भाई लार्ड डार्नले से विवाह किया; परन्तु थोड़े ही दिनों पश्चात् दोनों में अनबन हो गयी। अर्ल आफ़ बाथवैल ने लार्ड डार्नले को बारूद से उड़ा दिया और मेरी से विवाह कर लिया। जनता ने इस दुर्घटना का सारा दोष

मेरी पर लगाया। फलस्वरूप उसके विरुद्ध एक विद्रोह खड़ा हो गया। वह लक लेविन-दुर्ग में बन्दी कर दी गयी। उसका पुत्र जेम्स गद्दी पर बैठा। इस घटना के एक वर्ष पश्चात् मेरी बन्दी-गृह से भागकर इङ्गलैण्ड आयी। एलिज़बेथ ने उसे १६ वर्ष तक बन्दी-गृह में रखा। इससे इङ्गलैण्ड की केथालिक प्रजा असंतुष्ट हो गयी। उसने एलिज़बेथ की जान लेने की कोशिश की। मेरी पर इन सब बातों का अभियोग लगाया गया और सन् १५८७ ई० में उसे प्राण-दंड दिया गया। इस प्रकार एक शत्रु का अन्त हुआ।

फ्रांस की शत्रुता का अन्त

फ्रांस केथालिक धर्म का अनुयायी था। इसलिए इङ्गलैण्ड से उसे शत्रुता थी। वहाँ का तत्कालीन शासक चार्ल्स नवम जो द्वितीय फ्रांसिस की मृत्यु के पश्चात् गद्दी पर बैठा था केथालिक मतवालों का पक्षपाती था। फलस्वरूप उसे भी फ्रांसीसी प्रोटेस्टेण्ट (ह्यूजीनाट्स) के विरुद्ध युद्ध करना पड़ता था। एलिज़बेथ ने सामयिक परिस्थिति से ख़ूब लाभ उठाया। वह गुप्त रूप से फ्रांसीसी प्रोटेस्टेण्टों की सहायता करती रही। इस वजह से फ्रांस को इङ्गलैण्ड के विषय में कुछ सोचने का अवकाश ही नहीं मिला। इसके अतिरिक्त फ्रांस स्पेन की वृद्धि से भी भयभीत हो रहा था। विवश होकर सन् १५६४ ई० में दोनों ने संधि कर ली और स्पेन के दबाने की चेष्टा करने लगे।

स्पेन की शत्रुता का अन्त

एलिज़बेथ का तृतीय शत्रु स्पेन था। स्पेन का शासक फ़िलिप इँग्लैण्ड के राजसिंहासन पर आँख लगाये हुए था। एलिज़बेथ ने कई बार उससे अपने साथ विवाह का प्रस्ताव भी किया था; परन्तु यह उसकी एक चाल थी। वास्तव में वह विवाह करना ही नहीं चाहती थी। इन सब कारणों से जला-भुना फ़िलिप उचित समय की प्रतीक्षा कर रहा था।

इधर एलिज़बेथ चुपके-चुपके नीदरलैण्ड (हालैण्ड और बेलजियम) के प्रोटेस्टेण्टों को स्पेन के विरुद्ध उभार रही थी। फ्रांस से उसकी संधि हो ही चुकी थी। मेरी बन्दी-गृह में थी। इसलिए उसे किसी बात का भय नहीं था। समय अनुकूल था। इङ्गलैण्ड के नाविक स्पेन-निवासियों के व्यापारिक जहाज़ों

को भी लूट रहे थे। इन सब बातों से चिढ़कर फ़िलिप ने इँग्लैण्ड पर आक्रमण करने का आयोजन किया। बड़े उत्साह से तैयारियाँ होने लगीं।

सन् १५८८ ई० में 'आरमडा' नाम का एक जहाज़ी बेड़ा इँग्लिश चैनल में दिखायी दिया। एलिज़बेथ बड़ी दूरदर्शी और साहसी महिला थी।

अजेय आरमडा का पतन

उसने ड्रेक को रवाना किया। स्पेन के केडिज़ बन्दरगाह से अभी आरमडा चल भी न पाया था कि ड्रेक ने कई जहाज़ों में आग लगा दी। दूसरे वर्ष फिर उन्होंने तैयारियाँ कीं। अब की बार 'अजेय आरमाडा' का आयोजन हुआ। यह बेड़ा लिसबन से इँग्लैण्ड पर आक्रमण करने के लिए बढ़ा।

एलिज़बेथ निर्भीक थी। उसने अपनी जनता में राष्ट्रीयता की भावना फैला दी थी। अतएव कैथालिक और प्रोटेस्टेण्ट सभी एक होकर इङ्गलैण्ड को स्पेन के चंगुल से बचाने के लिए तैयार हो गये। लार्ड हावर्ड जो कैथालिक-धर्मावलम्बी था इङ्गलैण्ड की तट-रक्षा का भार लेकर आगे बढ़ा। इस प्रकार धार्मिकता ने राष्ट्रीयता का रूप धारण कर लिया। प्लाईमाउथ के बन्दरगाह पर बड़े-बड़े नाविक धार्मिक भेद-भाव भूलकर एकत्र हो गये। इङ्गिलश चैनल से अजेय आरमडा का निकलना कठिन हो गया। रात्रि के समय अँगरेज़ी जल-सेना ने अपने पुराने आठ जहाज़ों में बारूद भरकर आग लगा दी और स्पेन के जहाज़ों की ओर छोड़ दिया। इस प्रकार स्पेन के कई जहाज़ जल गये। इसी समय बड़े वेग से उत्तरी हवा चलने लगी। अब स्पेन के जहाज़ों का इँग्लिश चैनल में ठहरना कठिन हो गया। उन्होंने ब्रिटिश जहाज़ों का चक्कर लगाकर भागने की कोशिश की; परन्तु वहाँ भी उन्हें बर्फ़ के तूफ़ान का सामना करना पड़ा। अन्त में बड़ी कठिनाई से वे अपने घर पहुँचे। स्पेन की समस्त आशाएँ इँग्लिश चैनल में भस्म हो गयीं। वह बड़ा बनकर गया और छोटा बनकर लौट आया। इससे इँग्लैण्ड की धाक जम गयी। एलिज़बेथ की नीति सफल हो गयी।

एलिज़बेथ के दादा हेनरी सप्तम, के समय में आयरलैण्ड की पार्ल्यामेण्ट नियम बनाने के काम में अँगरेज़ी सरकार के अधीन हो चुकी थी। इससे

आयरलैण्ड में बड़ा असन्तोष था। वहाँ की प्रजा केथालिक थी, इसलिए एलिज़बेथ के विरुद्ध वहाँ विद्रोह हो रहा था। यह देखकर उसने अर्ल ऑफ़ एसेक्स को प्रजा में शान्ति स्थापित करने के लिए भेजा। वह विद्रोह-शान्त करने में असफल रहा और लौट आया। इससे एलिज़बेथ को बहुत बुरा मालूम हुआ; वह एसेक्स को बहुत चाहती थी; परन्तु राजकीय मामलों में वह किसी को क्षमा करना नहीं जानती थी। उसने एसेक्स को प्राण-दंड देकर लार्ड माउन्ट ज्वाय को भेजा। अब की बार विद्रोह दमन कर दिया गया। आयरलैण्ड पूर्णतया अधिकार में आ गया और वहाँ शान्ति स्थापित हो गयी; परन्तु वह थोड़े दिनों तक ही क़ायम रही।

आयरलैंड पर अधिकार

एलिज़बेथ ने आन्तरिक तथा बाह्य झगड़ों से छुट्टी पाकर व्यापार तथा उपनिवेशों की उन्नति की ओर भी ध्यान दिया। जान हाकिन्स ने अफ्रीका के समुद्री तट की तीन यात्राएँ कीं और वहाँ के हब्शियों को पकड़कर उत्तरी अमेरिका में उन्हें बेंचने का प्रबंध किया। इसी समय वाल्टररेले ने अमेरिका से आलू और तम्बाकू लाकर योरप में उनका प्रचार किया। उसी ने अमेरिका में पहले-पहल अँगरेज़ी उपनिवेश स्थापित किया और कुमारी रानी के नाम पर उसका नाम 'वर्जीनिया' रखा। इसके अतिरिक्त फ्रांसिस ड्रेक ने अमेरिका के स्थल-डमरूमध्य पनामा की पैदल यात्रा की और समस्त भू-मंडल का चक्कर लगाया। एलिज़बेथ ने प्रसन्न होकर उसे 'नाइट' की पदवी से विभूषित किया। इसी समय अँगरेज़ों ने कतिपय व्यापारिक कम्पनियाँ बनायीं। उनमें से ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में व्यापार करने के लिए भेजी गयी। इस प्रकार व्यापार तथा उपनिवेशों की भी उन्नति हुई।

व्यापार तथा उपनिवेश

एलिज़बेथ बड़ी विदुषी महिला थी। वह विद्वानों का बड़ा आदर-सत्कार करती थी। उसके समय में शेक्सपियर-जैसे प्रतिभाशाली नाटककार हुए। अँगरेज़ी साहित्य में उनकी रचनाओं का बड़ा महत्त्व है। दूसरे प्रसिद्ध नाटक-

कार मारलो और बेन जानसन भी इसी काल में हुए थे। प्रसिद्ध कवि एडवर्ड स्पेनसर भी इसी काल का एक रत्न है। दार्शनिक फ्रांसिस **साहित्यिक उन्नति** बेकन तथा धार्मिक ग्रन्थो के प्रसिद्ध लेखक रिचार्ड हूकर ने इसी समय में जन्म लेकर साहित्य की अभिवृद्धि की थी।

व्यापारिक उन्नति के कारण एलिज़बेथ के समय में प्रजा सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करती थी। देश में बड़ी-बड़ी इमारतें बन रही थीं और जनता वस्त्र, भोजन तथा सजावट की चीज़ों पर अधिक व्यय करने **सामाजिक उन्नति** लगी थी। नयी-नयी वस्तुओं की खेती तथा कपड़ा बुनने के नये-नये साधनों की खोज हो रही थी। मध्यम श्रेणी के लोगों में किसी प्रकार का असन्तोष नहीं था; परन्तु ग़रीबों की दशा ख़राब थी। एलिज़बेथ ने सन् १६०१ ई० में उनकी स्थिति सुधारने के लिए दरिद्र-संरक्षण-नियम बना दिया था। इसके अनुसार अपाहिजों को सरकार से सहायता दी जाती थी और काम कर सकने वालों को काम दिया जाता था। इस प्रकार प्रत्येक नगर में बेकारी की समस्या हल कर दी गयी थी।

इस प्रकार एलिज़बेथ ने १५५८ ई० से लेकर १६२३ ई० तक बड़ी चतुरता और दूरदर्शिता से शासन किया। वह स्त्री थी; परन्तु अपने बुद्धि-बल से बड़े-बड़े पुरुषों को उसने नीचा दिखाने में अद्वितीय **मृत्यु** सफलता प्राप्त की थी। उसके सिंहासनारूढ़ होने के समय इँग्लैण्ड कमज़ोर था। उसने अपनी योग्यता और राजनीति से उसे सबल बना दिया। इँग्लैण्ड के इतिहास में उसकी बहुमुखी प्रतिभा को देखकर यह कहना पड़ता है कि वह अपने देशवासियों के लिए देवी थी। संसार के स्त्री-समुदाय में उसका स्थान प्रत्येक दृष्टि से अत्यन्त ऊँचा और महत्त्वपूर्ण है।

फ़्लोरेंस नाइटेंगिल

धनी घर की एक पुत्री। सब प्रकार का सुख। न खाने की कमी, न वस्त्रों का अभाव। जो चाहे करे, जो चाहे खाय, जो चाहे पहने, कोई रोकने-वाला नहीं। उसकी बड़ी बहनें बड़ी सुन्दर, शृङ्गार-प्रिय, नृत्य और संगीत में विशेष अभिरुचि। वह सबसे उदासीन। न शृङ्गार से प्रेम, न संगीत सीखने का शौक़। उसमें थी सेवा की लगन। उसमें थी रोगियों और पीड़ितों का कष्ट दूर करने की उत्कट अभिलाषा। पिता चाहते थे उसे भले घर की बहू बनाना। उसने अपना लक्ष्य बनाया आजीवन कुमारी रहकर रोगियों की सेवा करना। पिता की अभिलाषा पूरी न हो सकी। वह नर्स बनी।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

उस नर्स का नाम था फ़्लोरेंस। उसका जन्म सन् १८२० ई० में इटली के फ़्लोरेंस नगर में हुआ था। उसके माता-पिता नाइटेंगिल के नाम से प्रसिद्ध थे, इसलिए उन्होंने अपने नवजात शिशु का नाम फ़्लोरेंस नाइटेंगिल रखा।

बाल्यावस्था

फ़्लोरेंस के जन्म के पश्चात् नाइटेंगिल इटली से अपने घर इंग्लैंड लौट आये। डर्बीशायर में उनका सुन्दर महल था। ग्रीष्म ऋतु में वह लोग वहीं रहते थे; परन्तु जाड़े के दिनों में दक्षिण की ओर हैम्पशायर चले जाते थे। उस समय इंग्लैण्ड में रेलें नहीं थीं। यात्रियों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। नाइटेंगिल को किसी प्रकार की असुविधा नहीं थी। उनके पास टमटम और शिकरम थी, अच्छे-अच्छे घोड़े थे, इसलिए जब उनका जी एक स्थान से ऊब जाता था तब वह तुरन्त दूसरे स्थान में मन बहलाने के लिए चले जाते थे।

नाइटेंगिल धनी और भद्र पुरुष थे। समाज में उनका अच्छा सम्मान

था। इसलिए वह अपनी बालिका को अच्छी शिक्षा देना चाहते थे। तत्कालीन प्रथा के अनुसार घर पर ही फ़्लोरेंस को शिक्षा दी गयी। वह बड़ी परिश्रमी थी। थोड़े ही दिनों में उसने भाषा, संगीत, और नृत्य का अच्छा अभ्यास प्राप्त कर लिया। कभी-कभी वह घोड़े पर सवार होकर पर्वत की घाटियों और झाबर मे चली जाती थी। इन रमणीक स्थानो मे उसे बड़ा आनन्द मिलता था। १७ वर्ष की अवस्था में उसकी शिक्षा सम्पूर्ण हो गयी। इसके पश्चात् वह रोगियों की देख-रेख में संलग्न हो गयी। वह ईसाइयो की धर्म-पुस्तक बाइबिल भी बच्चों को पढ़ाया करती थी। थोड़े दिनों बाद उसके माता-पिता उसे लन्दन ले गये।

शिक्षा

फ़्लोरेंस बड़ी सुन्दर बालिका थी। वह बड़ी बुद्धिमान और प्रतिभा-सम्पन्न थी। दया और त्याग से उसका कोमल हृदय ओत-प्रोत था। अब तक उसने अपने घर पर जितनी शिक्षा प्राप्त की थी उससे उसे सन्तोष नहीं था। रोगियों की देख-रेख और उनकी सेवा में उसे विशेष आनन्द मिलता था। नृत्य, गीति-नाट्य-शालाओं, दावतों और यात्राओ में उसकी बिलकुल रुचि नहीं थी। वह धात्री या डाक्टर बनना चाहती थी; परन्तु समय इस प्रकार के कार्य के लिए उपयुक्त नहीं था। इस समय भद्र घरानो की लड़कियो का घर के बाहर निकल कर कोई काम करना अपमान की दृष्टि मे देखा जाता था। इसलिए फ़्लोरेंस को अपने उद्देश्य-पूर्ति के मार्ग में बाधाएँ मिलने लगीं। वह बड़ी चिन्ता में पड़ गयी और दुखी रहने लगी। माता-पिता ने उससे उसके हृदय का गुप्त भेद जानने के लिए बहुत पूछा; परन्तु उसने कुछ भी उत्तर न दिया। उसकी माता उसके लिए विशेष रूप से चिन्तित हुई। उसे भी अपनी पुत्री के हृदय की बात ज्ञात नहीं हुई।

चरित्र और जीवन का उद्देश्य

इस समय फ़्लोरेंस की अवस्था २५ वर्ष की थी। इसलिए उसकी माता ने एक धनी युवक से उसका विवाह करने का निश्चय किया। फ़्लोरेंस इस बात पर भी राज़ी नहीं हुई। गार्हस्थ्य जीवन से उसे घृणा थी। वह विवाह

करके अपने आप को बन्धन में रखना नहीं चाहती थी। वह स्वतन्त्र-जीवन व्यतीत करना चाहती थी। उसकी बहनें नृत्य, संगीत, पार्टी तथा इस प्रकार के अन्य मनोरञ्जन के साधनों में अपने जीवन की सुखद घड़ियाँ बिता रही थीं। फ़्लोरेंस का हृदय इन बातों की ओर ज़रा भी आकर्षित नहीं होता था। उसके माता-पिता उसे इन बातों में फँसाने की जितनी ही चेष्टा करते थे उतनी ही वह उनसे उदासीन होती जाती थी। अपनी पुत्री की यह दशा देखकर माता-पिता को बड़ी चिन्ता होने लगी। फ़्लोरेंस को प्रसन्न करने का कोई उपाय उनकी समझ में नहीं आया। अन्त में विवश होकर फ़्लोरेंस ने एक दिन अपने पिता के सामने धात्री बनने का प्रस्ताव रखा। यही एक विचार उसे वर्षों से चिन्तित कर रहा था।

नाइटेंगिल अपनी पुत्री के लिए सब कुछ कर सकते थे। वह उसका बड़े-से-बड़े घर में विवाह कर सकते थे, अपनी प्यारी से प्यारी वस्तु का त्याग कर सकते थे, घोर विपत्तियाँ सहन कर सकते थे; परन्तु धात्री के रूप में वह उसको नहीं देख सकते थे। दुनिया क्या कहेगी, समाज क्या कहेगा, भद्र पुरुष उसे किस दृष्टि से देखेंगे, इन्हीं बातों को सोचकर उन्होंने उसका प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। फ़्लोरेंस की बढ़ती हुई उमंग पर पानी पड़ गया। वह अपने भावी जीवन से निराश हो गयी।

फ़्लोरेंस अपने समाज और पिता की कमज़ोरियों से भली-भाँति परिचित थी। वह जानती थी कि पिता प्रसन्नतापूर्वक उसे धात्री बनने की सलाह नहीं देंगे। इसलिए उसने अधिक आग्रह नहीं किया। वह बड़ी समझदार और दूरदर्शी थी। उसमें आत्म-बल था। वह समझती थी कि एक-न-एक दिन वह धात्री अवश्य बनेगी। उसे अपने उद्देश्य में विश्वास था। इसलिए वह उचित समय की प्रतीक्षा करने लगी।

उद्देश्यपूर्ति के लिए प्रयत्न

लन्दन में रहने पर, उसने अपनी इच्छा के विरुद्ध गीति-नाट्यशालाओं में भाग लिया; पार्टियों में सम्मिलित हुई और इसी प्रकार के अन्य कार्य भी किये; परन्तु अवकाश का समय उसने अपने उद्देश्य की पूर्ति ही में लगाया।

वह बहुधा चिकित्सा सम्बन्धी विवरण पढ़ा करती थी और दीन-दुखियो की देख-रेख में संलग्न रहती थी। वह कारखानों में जाती थी और वहाँ मज़दूरों के साथ साधारण स्त्रियों के समान काम करती थी। अनाथालयों में उसका अधिक समय व्यतीत होता था। वहाँ अनाथ बच्चों की सेवा-शुश्रूषा में उसे विशेष आनन्द मिलता था।

उसने विदेश की यात्रा भी की। रोम की एक धार्मिक पाठशाला में उसने अध्यापन-कार्य भी किया। वहाँ से वह पेरिस चली गयी। इस समय उसके माता-पिता जर्मनी में थे। इसलिए पेरिस के एक धात्री-भवन में उसने तीन महीने तक शिक्षा भी प्राप्त की। तत्पश्चात् वह अपने घर लौट आयी। यहाँ फिर उसका जी घबराने लगा। विवश होकर माता पिता ने उसे धात्री बनने की अनुमति दे दी। इस समय वह चौंतीस वर्ष की थी।

धात्री-जीवन में प्रवेश

माता-पिता की अनुमति पाकर वह बड़ी प्रसन्न हुई। उसने हार्ली स्ट्रीट के धात्री-भवन में लगभग एक वर्ष प्रधान धात्री की हैसियत से बड़ी सफलता-पूर्वक काम किया; परन्तु वहाँ उसका जी न लगा। वह पीड़ितों की सेवा करना चाहती थी। धात्रियों की स्वामिनी बनना उसे रुचिकर न था। सौभाग्य से इसी समय क्रीमियन युद्ध का सूत्रपात हुआ। ऐसे अवसर पर सरकार को घायल सिपाहियों के लिए अस्पताल खोलने और उनमें डाक्टर तथा धात्रियों को नियुक्त करने की आवश्यकता महसूस हुई। अपने उद्देश्यानुकूल समाचार पाकर वह अपने मित्र सिडनी हर्बर्ट के पास पहुँची।

सिडनी हर्बर्ट उस समय युद्ध-मंत्री थे। उन्होंने सरकार से फ़्लोरेन्स को धात्री बनाकर युद्ध में भेजने की सिफ़ारिश कर दी। फलतः ३८ धात्रियों के साथ वह क्रिमिया के लिए रवाना हुई। मार्सेलीज़ पहुँचकर उसने अपने खाने-पीने की काफ़ी सामग्री मोल ले ली। स्कोतरी में अच्छे खाद्य पदार्थों की बड़ी कमी थी, इसलिए उसे वहाँ खाने-पीने की कोई असुविधा नहीं रही।

स्कोतरी में घायल सिपाही एक जीर्ण भवन में रखे जाते थे। वहाँ न तो उन्हें शुद्ध वायु मिलती थी और न धूप। चारों ओर बड़ी दुर्गन्ध फैली रहती

थी। घायलों की चारपाइयाँ एक दूसरे से सटाकर बिछाई जाती थीं। इससे आने-जाने में बहुत कष्ट होता था। वहाँ तौलिया, साबुन

आहतों की सेवा

और हाथ धोने का बरतन भी न था। तात्पर्य यह है कि घायल सिपाहियों के लिए कोई प्रबन्ध न था। हज़ारों सिपाही प्रति-दिन काल-कवलित होते थे। बहुत से मलेरिया-ज्वर के कारण ही मर जाते थे। यह करुणाजनक दृश्य देखकर फ़्लोरेंस का हृदय काँप उठा। उसने सर्वप्रथम इन त्रुटियों को दूर करने का संकल्प कर लिया; परन्तु इस कार्य में उसे अपने विरोधियों का सामना करना पड़ा। डाक्टरों ने उसके साथ कार्य करने से इनकार कर दिया। फिर भी वह अपने काम में लगी रही। वह अपनी सामग्री से रोगियों को सब तरह की सुविधाएँ देने लगी। उसने उनके लिए साबुन, तौलिया और भोजन का प्रबंध किया; अपने हाथों से गन्दगी दूर की और दीवारें धोकर साफ़ कर दीं।

फ़्लोरेंस की इस प्रकार की सेवा और लगन देखकर बड़े-बड़े डाक्टर आश्चर्य चकित हो गये। टाइम्स समाचार-पत्र के प्रतिनिधि ने धन से उसकी बड़ी सहायता की। इस धन से उसने भारतीय सिपाहियों के लिए विशेष प्रकार के भोजन का प्रबंध किया। एक बार उसने सरकार से कई हज़ार क़मीज़ों के लिए प्रार्थना की। सरकार ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और २७००० क़मीज़ें भेज दीं; परन्तु भंडारी बड़ा दुष्ट था। उसने बोर्ड की आज्ञा के बिना क़मीज़ों का बंडल खोलने से इनकार कर दिया। फलस्वरूप बहुत-से बीमार सिपाही जाड़े के कारण मरने लगे। इससे उसके हृदय को बड़ी चोट लगी। दूसरी बार जब फिर क़मीज़ों का बंडल आया तब उसने बिना किसी से पूछे ही बंडल खुलवा लिया। इस प्रकार कभी प्रार्थना करके, कभी भिक्षा माँग कर और कभी सर्वेसर्वा बनकर उसने लोगों पर अपनी धाक जमा ली। वह रसोई-घर की देख-रेख भी रखने लगी और इस बात के लिए प्रयत्न करने लगी कि रोगियों को शुद्ध और ताज़ा भोजन मिला करे।

इन कामों के अतिरिक्त वह धात्री का कार्य भी सम्पादन करती थी। घायलों के अस्पताल में लाखों घायल पड़े हुए थे। उनकी चारपाइयाँ मिला-

कर एक साथ बिछाने से चार मील की लम्बाई होती थी। फ्लोरेंस अकेले इन सब रोगियों की चिकित्सा करती थी। वह सब की सेवा समान रूप से करती थी। भारतीय सिपाहियों की बुरी दशा पर उसे विशेष दुःख होता था। वह उनकी सेवा-शुश्रूषा बड़े लगन से करती थी। किसी का दुःख देखना उसके लिए असम्भव था। दूसरों के सुख में ही वह अपना सुख समझती थी। धात्री की हैसियत से वह जो कुछ करती थी उसका विवरण वह सरकार को बराबर देती रहती थी। इतना ही नहीं, वह सिपाहियों की ओर से उनके सम्बन्धियों को पत्र लिखकर डाक में छोड़ देती थी। उसने घायल और पीड़ित सिपाहियों के मनोरंजन के लिए समाचार-पत्र तथा पुस्तकों का भी प्रबंध कर दिया था। इस प्रकार वह उनके शारीरिक और मानसिक कष्टों को दूर करने की चेष्टा करती थी। वह स्वयं कठिन परिश्रम करती थी और दूसरों से भी काम लेती थी। खाना-पीना और सोना उसके लिए हराम हो गया था।

स्कोतरी में अस्पताल की सुव्यवस्था करने के पश्चात् वह क्रीमिया के अन्य अस्पतालों का निरीक्षण करने के लिए निकली। इस कार्य में उसे बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं। वह कई घण्टे पैदल यात्रा करती थी, धूप सहती थी और बर्फ़ की आँधियों का सामना करती थी। फिर भी वह हिम्मत नहीं हारती थी। उसका अदम्य उत्साह उसे उसके मार्ग से विचलित नहीं होने देता था। अन्त में वह बीमार पड़ गयी। सौभाग्य से इसी समय क्रीमियन युद्ध भी समाप्त हो गया। अतः वह इँग्लैण्ड चली गयी। उसे अपने कार्य के लिए प्रशंसा की आवश्यकता नहीं थी। जनता उसका दर्शन करना चाहती थी; परन्तु उसे यह रुचिकर न था। इसलिए वह चुपचाप अपने घर चली गयी और वहाँ सुख से जीवन व्यतीत करने लगी।

स्वदेशागमन

इस अवसर पर इँग्लैण्ड की जनता ने उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए ४४००० पौंड का चन्दा किया। उदारता और त्याग की उस जीवित मूर्ति ने इस धन से लन्दन में एक अस्पताल और धात्री-भवन की स्थापना की जहाँ उसने अपनी

लोक-हितैषी कार्य

योजना के अनुसार चतुर डाक्टर और सुयोग धात्रियों की नियुक्ति की। उसके उद्योग से सैनिकों के लिए अच्छे अस्पताल खोल दिये गये और युद्ध में घायल होनेवाले सिपाहियों के लिए विशेष प्रबन्ध कर दिया गया। ऐसे अस्पतालों में पुस्तकालय तथा समाचार-पत्रों का भी आयोजन किया गया। उसने अन्य अस्पतालों की ओर भी ध्यान दिया और सरकार से रोगियों की चिकित्सा के लिए विशेष सुविधाएँ प्राप्त कीं। इसी सम्बन्ध में उसने एक पुस्तक भी लिखी जो डाक्टरों तथा धात्रियों के लिए बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई।

अन्तिम जीवन

फ्लोरेंस का अन्तिम जीवन बड़े-कष्ट में बीता। क्रीमियन युद्ध में अनवरत परिश्रम करने के कारण उसका स्वास्थ्य बिगड़ गया था। वह डर्बीशायर ही में रहती थी; परन्तु फिर भी वह पीड़ितों और रोगियों की चिकित्सा तथा उनकी सेवा-शुश्रूषा का बराबर ध्यान रखती थी। सरकार ने उसकी लोक-सेवाओं से प्रसन्न होकर उसे 'आर्डर आफ़ मेरिट' नाम का पदक भेंट किया था। इस घटना के तीन वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

फ्लोरेंस त्याग और दया की जीवित मूर्ति थी। वह तपस्विनी थी। अविवाहित रहकर उसने जितनी सुन्दरता से अपना जीवन व्यतीत किया वह लोक-सेविकाओं के लिए आदर्श है। आज इँग्लैण्ड उसके एहसान से दबा हुआ है। अस्पतालों में पड़े हुए रोगी आज भी उसका स्मरण करके स्वास्थ्य लाभ करते हैं और कहते हैं—वह देवी थी।

संगीताचार्या जेनी

कला न धन देखती है न दरिद्रता। उसे जो हृदय से अपनाता है उसका जो अभ्यास करता है वही उससे नाम और यश प्राप्त करता है। जेनी एक दरिद्र परिवार की एक सुन्दर बालिका थी। उस समय उसे देखकर कोई यह न कह सकता था कि कभी उसके दिन भी लौटेंगे। धूल और मिट्टी में पली हुई बालिका कभी पुष्पों का हार भी पहनेगी। उसके जीवन में एक दिन वह समय भी आया। संगीत और नृत्य-कला में उसने इतना यश प्राप्त किया कि वह जहाँ गयी वहाँ उसका बड़ा सम्मान हुआ और वह संगीताचार्या जेनी के नाम से प्रसिद्ध हुई।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

जेनी का जन्म ६ अक्टूबर सन् १८२० ई० को स्वीडन की राजधानी स्टोकहोल्म में हुआ था। उसका पूरा नाम जेनी लिंड था। उसके पिता गोटा और फ़ीता बनाने का काम करते थे। इस रोज़गार से उन्हें अधिक आमदनी नहीं होती थी, इसलिए जेनी की माता को ही गृहस्थी का कुल कार्य सम्पादन करना पड़ता था। वह बड़ी चतुर और शिक्षिता थी। उसने एक कन्या पाठशाला खोल दी थी। उससे जो आय होती थी उसी से वह अपने परिवार का कार्य चलाती थी। वह दिन-भर पाठशाला और गृहस्थी के कामों में ही व्यस्त रहती थी। मातृत्व का भार उसके लिए असह्य हो रहा था। अतएव उसने जेनी को एक गाँव में भेज दिया। यहाँ वह बालिका गिर्जाघर के एक अरगन बजानेवाले के घर में रहने लगी।

बाल्यावस्था और संगीत-प्रेम

अरगन बजानेवाला बड़ा दयालु और कोमल स्वभाव का था। उसकी पत्नी का भी वैसा ही स्वभाव था। जेनी सुन्दर बालिका थी। दोनों ने उस पर दया करके बड़े प्रेम से उसका पालन-पोषण किया। थोड़े ही दिनों में वह भूल गयी अपनी माँ को, भूल गयी अपने पिता को। वह अपने धर्म-पिता के साथ प्रति-दिन

बाहर घूमने जाती थी और प्रकृति की खुली पाठशाला में पक्षियों का कलरव सुनकर बड़ी प्रसन्न होती थी। अरगन बाजा से भी उसे बड़ा प्रेम हो गया था। वह उसके सुखद स्वरों को बड़े ध्यान से सुनती थी और उनका अनुकरण करती थी। इस प्रकार बाल्यावस्था ही से उसके भावुक हृदय में संगीत के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो गयी थी। प्रकृति की गोद में वह ख़ूब खेली, ख़ूब घूमी। उसके जीवन के तीन वर्ष इसी प्रकार हँसते-खेलते बीत गये। इसके बाद वह अपने घर स्टाकहोल्म चली गयी।

बच्चों के कोमल हृदय पर वातावरण का अधिक गहरा प्रभाव पड़ता है। इस समय वह जो कुछ सीखते हैं बड़े होने पर उसी के अनुसार आचरण करते हैं। जेनी ने अपने शिशु-जीवन के तीन वर्ष गाँव में व्यतीत किये थे। वहाँ वह नित्य अरगन बाजा सुना करती थी; पक्षियों के कलरव में भाग लेती थी और सैनिक-बिगुल की संगीतमय ध्वनि सुनकर आनन्दित होती थी। संगीत के प्रति उसका यह स्वाभाविक प्रेम स्टाकहोल्म आने पर और भी बढ़ गया था। वह मन ही मन ख़ूब गुनगुनाती थी और अपने मधुर संगीत से उस दरिद्र परिवार को आनन्द-विभोर कर देती थी।

जेनी के घर में एक पियानो था। वह प्रायः एकान्त में उसे बजाया करती थी। एक दिन उसकी दादी को पियानो के ऐसे मधुर बोल सुनायी दिये कि वह आश्चर्य में पड़ गयी। वह तुरन्त अपने स्थान से उठी और जिस ओर से पियानो के अमृतमय शब्द आ रहे थे उस ओर बढ़ी। जिस कमरे में पियानो रखा हुआ था उसमें पहुँचने पर जब उसने किसी को न पाया तब उसकी आँखें पियानो बजानेवाले की खोज में इधर-उधर देखने लगीं। अन्त में पियानो के नीचे छिपी हुई एक बालिका पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह जेनी थी जो अपनी दादी के डर से पियानो के नीचे छिप गयी थी।

जेनी के ऐसे ही कार्य उसकी भावी रुचि का परिचय दे रहे थे। वह प्रायः अपनी गोद में बिल्ली का एक बच्चा लेकर अपने घर की खिड़की पर बैठ जाती थी और उसे गाने सुनाती थी। बिल्ली मंत्रमुग्ध होकर चुपचाप उसकी गोद में बैठी रहती थी और उसके साथ संगीत का आनन्द लेती थी।

उस मार्ग से जानेवाले स्त्री-पुरुष भी उसका गाना सुनकर आश्चर्य में पड़ जाते थे।

जेनी अत्यन्त रूपवती थी। स्वर की मधुरता के साथ ही साथ उसके स्वभाव में भोलापन था। इसलिए उसके संगीत-प्रेम और भोलेपन पर रीझकर एक युवती ने उसकी माता से उसे गीति-नाट्यशाला में शिक्षा देने की सम्मति दी। माता ने बड़ी प्रसन्नता से उसकी सलाह स्वीकार कर ली और वह संगीत-कला की शिक्षा पाने के लिए तत्कालीन संगीताचार्य हर कोलियस के पास भेज दी गयी। हर कोलियस उस बालिका के मुख से संगीतमय शब्द सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने गीति-नाट्यशाला के प्रधान काउण्टप्यूक से उसकी बड़ी प्रशंसा की; परन्तु उन्हें विश्वास न हुआ। अन्त मे उन्होंने स्वयं उसका गाना सुना और बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। इस प्रकार जेनी थियेटर-स्कूल में नृत्य तथा संगीत-कला की शिक्षा पाने के लिए प्रविष्ट कर ली गयी। इस समय उसकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी।

संगीत-शिक्षा

जेनी ने लगभग ७ वर्ष तक बड़े परिश्रम और चाव से गीति-नाट्यशाला में शिक्षा प्राप्त की। प्रविष्ट होने के एक वर्ष पश्चात् वह रायल थियेटर में अपने संगीत और नाटकीय अभिनय का प्रदर्शन करने के लिए सर्वप्रथम रंगमञ्च पर आयी। इस अवसर पर उसने अपनी कला का ऐसा सफल प्रदर्शन किया कि दर्शक मंत्रमुग्ध हो गये। इससे उसका उत्साह बहुत बढ़ गया। अब उसने अपनी शक्ति और प्रतिभा पर विश्वास करके दूने उत्साह से काम करना आरंभ कर दिया। इसका फल यह हुआ कि अपने जीवन के सतरहवें वर्ष में वह संगीत और नृत्य-कला में अपने गुरु से भी बाज़ी मार ले गयी। सन् १८३७ ई० से वह बराबर संगीतमय नाटकों में भाग लेती रही। इससे उसमें नाट्य कला का अच्छा विकास हो गया। बड़ी-बड़ी दूर से दर्शक उसका अभिनय देखने के लिए आने लगे। धीरे-धीरे उसकी ख्याति अन्य देशों तक पहुँची। सन् १८४१ ई० में वह फ्रांस के प्रसिद्ध नगर पेरिस में चली गयी। वहाँ उसका बड़ा सम्मान हुआ।

लोक-प्रियता

स्वेडन में जेनी की ख्याति और यश का आधार अभिनय-कला का सुन्दर-तम प्रदर्शन था। संगीत में अभी उसकी उतनी पहुँच नहीं थी जितनी उसके लिए आवश्यक थी। स्वर-संबन्धी बहुत-सी त्रुटियाँ अभी उसमें विद्यमान थीं। उसने मैनुएल गार्शिया की शिष्या बनकर संगीत की सर्वोत्तम शिक्षा प्राप्त की। दो वर्ष वहाँ के गीति-नाट्यशालाओं में अपने अमृतमय संगीत से दर्शकों को आनन्द-विभोर करने के पश्चात् वह बर्लिन चली गयी। १५ दिसम्बर सन् १८४४ई० को नारमा में उसकी कला का प्रदर्शन हुआ। उस समय फ्रांस की समस्त जनता उसकी ओर आकर्षित हो गयी। सन् १८४५ ई० में वह लिपज़िग गयी और वहाँ भी उसने अपने संगीत और अभिनय से दर्शकों को आश्चर्य में डाल दिया। इसके पश्चात् वह पुनः बर्लिन गयी और वहाँ से एक्स-लाशेपल, हनोवर, हेमबर्ग, वियना, और म्यूनिख़ में घूमती रही। अन्त में हर मेजेस्टी के थियेटर के मैनेजर की प्रार्थना पर वह ४ मई सन् १८४७ ई० को इँग्लैंड गयी।

देशाटन और संगीत-कला-प्रदर्शन

जेनी पहले ही से इंग्लैंड में लोक-प्रिय हो चुकी थी। जनता उसका संगीत सुनना चाहती थी। अतएव लंदन में उसका अभिनय देखने और संगीत सुनने के लिए दर्शकों की ऐसी भीड़ लग गयी कि प्रबन्ध करना कठिन हो गया। उसने वहाँ के प्रमुख नगरों में अपनी कला का अत्यन्त सुन्दर प्रदर्शन किया। महारानी विक्टोरिया तो उसकी कला से इतनी प्रभावित हो गयीं कि उन्होंने उसके चरणों पर फूल का गुच्छा फेंककर उसका सम्मान किया। उन्होंने स्वयं उससे मिलकर बड़ी प्रशंसा की। नारविच में इङ्गलैंड के बिशप एडवर्ड स्टैनली से उसकी भेंट हुई। उसने जेनी को इन सब कामों से पृथक् हो जाने की सलाह दी। जेनी उसकी बातों से बड़ी प्रभा-वित हुई और उसने ऐसा ही निश्चय कर लिया; परन्तु जनता के आग्रह करने पर उसने कई बार गीति नाट्यशालाओं में अपना अभिनय दिखाया।

जेनी का अन्तिम अभिनय १० मई १८४९ ई० को हुआ। इसके पश्चात् उसने अभिनय न करने का दृढ़ संकल्प कर लिया। स्वेडन के राजा ने कई बार उससे अपना अभिनय दिखाने की प्रार्थना की; परंतु वह अपने संकल्प

से विचलित नहीं हुई। वह जर्मनी और स्वेडन में कुछ दिनों तक रहकर सन् १८५० ई० में अमेरिका चली गयी। वहाँ वह दो वर्ष तक रही। ५ फ़रवरी सन् १८५२ ई० को उसने ओटो गोल्डस्मिड्ट के साथ बोल्टन नगर में अपना विवाह किया। इसके पश्चात् वह इँग्लैंड लौट आयी।

विवाह

इँग्लैंड आने पर उसके जीवन में महान परिवर्तन हो गया। वह धार्मिक भजनों में विशेष रुचि दिखाने लगी और स्त्रियों को संगीत की शिक्षा देने में अपना समय व्यतीत करने लगी। कुछ दिनों तक उसने संगीत के रायल कालेज में प्रोफ़ेसर का पद भी सुशोभित किया। २० जनवरी सन् १८७० ई० को उसने अन्तिम बार अपने पति का रचा हुआ एक भजन गाया। इसके पश्चात् उसने अपना समस्त जीवन धार्मिक कामों में लगा दिया। विदेश में उसने जो धन पैदा किया था उससे उसने कई अस्पताल खोले और दीन-दुखियों की सहायता की।

दाम्पत्य जीवन और मृत्यु

जेनी का दाम्पत्य जीवन भी बड़ा सुखमय था। वह पतिपरायणा थी। अपने पति की सेवा में उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता था। रंग-मंच से पृथक होने के पश्चात् वह बहुधा अपने पति के रचे हुए भजनों को ही गाया करती थी। उसके कई बच्चे थे। वह अपने जीवन के शेष दिन इन्हीं बच्चों के साथ बड़े आनन्द से व्यतीत करती थी। वह मालवर्न में रहती थी। प्रकृति की गोद में बसा हुआ यह गाँव उसे बहुत अच्छा लगता था। यहीं सन् १८८७ ई० में उसकी मृत्यु हुई। योरप में वह आज भी 'स्वेडन की बुलबुल' के नाम से याद की जाती है।

जेनी लिंड बड़ी उदार और भद्र महिला थी। एक दरिद्र परिवार में जन्म लेकर उसने अपनी रुचि का जैसा सुन्दर परिचय दिया वैसा अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। समस्त योरप में उसने भ्रमण किया और ख्याति प्राप्त की। सर्वत्र उसका स्वागत हुआ और बड़े-बड़े विद्वानों और संगीताचार्यों ने उससे भेंट की। एक साधारण कुल की महिला के लिए इससे अधिक गौरव की बात और क्या हो सकती है!

भक्तिमती एलिज़बेथ

राज-वंश की एक राज-कन्या। दुःख का उसने कभी अनुभव नहीं किया। भूख ने उसे कभी सताया नहीं, वस्त्रों का अभाव उसे कभी खटका नहीं; फिर भी अपार दया थी उसके हृदय में। दुखियों का दुःख देखकर वह रोती थी, वह उनकी सहायता करती थी। उन्हें अन्न-वस्त्र देती थी। स्वयं भूखी रहकर कष्ट उठाकर वह उनका पेट भरती थी। विचित्र थी वह महिला; विचित्र था उसका त्याग। महल में उसे कष्ट होता था; झोपड़ी में वह स्वर्ग का सुख अनुभव करती थी; सूखी रोटियों में उसे स्वाद आता था। वह, मानव-सेविका थी साक्षात् देवी।

उसका नाम था एलिज़बेथ। उसका जन्म सन् १२०७ ई० में हँगरी के राज-वंश में हुआ था। उसके पिता राजा एण्ड्र्यू बड़े धर्मात्मा थे।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

अतएव उन्होंने अपनी बालिका को आरंभ से धार्मिक शिक्षा दी और उसके विशुद्ध हृदय में सच्चे परमार्थिक भावों का बीजारोपण किया।

एलिज़बेथ असाधारण बालिका थी। उसमें अलौकिक प्रतिभा और भावुकता थी। बाल्यकाल ही से उसमें धार्मिकता के भाव उदय हो गये थ।

बाल्यावस्था

माता-पिता की उचित शिक्षा ने उन भावों को और भी दृढ़ कर दिया था। वह बहुधा धार्मिक कहानियाँ सुनती थी और उनसे अधिक प्रभावित होती थी। ईश्वर सम्बन्धी बातों में उसकी विशेष अभिरुचि थी। दरिद्र और दीन-दुखियों से उसे अधिक प्रेम था। किसी दीन व्यक्ति की करुण-कहानी सुनकर उसकी आँखों से अश्रु-धारा बहने लगती थी। उस भोली-भाली बालिका की ऐसी सूझ और समझ पर लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था।

उस समय योरप के राज-परिवारों में विवाह सम्बन्धी एक विचित्र प्रथा

थी। उस प्रथा के अनुसार यदि किसी राजकुमारी का विवाह किसी राजकुमार के साथ निश्चित हो जाता था तो उसे अपने पिता का घर छोड़कर अपने पति-गृह में रहना पड़ता था। बालिका एलिज़बेथ को भी विवश होकर ऐसा ही करना पड़ा। सैक्सनी के राजा हरमैन ने उसकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी। उसका पुत्र लुई भी वैसा ही धार्मिक और उदार था। दोनों का वैवाहिक जीवन कितना सुन्दर और सुखद होगा, इसकी कल्पना करके राजा हरमैन ने राजा एण्ड्र्यू के पास पत्र भेजा। एण्ड्र्यू ने सहर्ष यह सम्बन्ध स्वीकार कर लिया और थोड़े दिनो पश्चात् अपनी कन्या एलिज़बेथ को सैक्सनी के राज-परिवार में भेज दिया। इस समय उसकी अवस्था केवल पाँच वर्ष की थी।

सैक्सनी के राजवंश में आगमन

सैक्सनी के राज-परिवार में पहुँचकर एलिज़बेथ अपने सास-श्वसुर के हाथों का खिलौना हो गयी। धार्मिकता की ओर उसका झुकाव देखकर उसके श्वसुर राजा हरमैन ने उसकी शिक्षा का विशेष रूप से प्रबन्ध कर दिया। इन सब सुविधाओं के कारण माता-पिता के स्वर्गीय स्नेह से वञ्चित होने पर भी एलिज़बेथ का जी वहाँ लग गया और वह आनन्दपूर्वक रहने लगी। इसके दो ही वर्ष पश्चात् उसकी माता षड्यंत्रकारियों की तलवार का शिकार बनकर काल-कवलित हो गयी। एलिज़बेथ के लिए दुखद घटना असह्य हो गयी। वह संसार से विरक्त हो चली। बाल्यावस्था के आमोद-प्रमोद उसे नीरस मालूम होने लगे। खेलने-कूदने से उसका जी उचट गया। चमकीले कपड़ों से उसे घृणा हो गयी। सादे वस्त्र और सादा भोजन ही उसे प्रिय लगने लगा। इस प्रकार धार्मिक विचार धीरे-धीरे उसके हृदय में घर करने लगे।

माता की मृत्यु

राजा हरमैन की धर्म-पत्नी सोफ़िया का स्वभाव विलास-प्रिय था। वह एलिज़बेथ को भी अपने ही जैसा बनाना चाहती थी; परन्तु उस पर इन बातों का कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। जितना ही सोफ़िया उसे अपने रंग में रँगने का प्रयत्न करती थी उतना ही एलिज़बेथ संसार से विरक्त होती जाती थी।

श्वसुर की मृत्यु

उसके सौभाग्य से घटनाएँ भी ऐसी ही घटती जा रही थीं। माता स्वर्गवासिनी हो ही चुकी थी, अब श्वसुर की बारी आयी। थोड़े दिनों तक बीमार रहकर वह भी चल बसे। अब वह रानी सोफ़िया की देख-रेख में रहने लगी।

एलिज़बेथ के एक ननद भी थी जिसका नाम था एग्नेस। अपनी माता की भाँति एग्नेस भी बड़े तीक्ष्ण स्वभाव की थी। उसे एलिज़बेथ की धार्मिक प्रवृत्ति बहुत बुरी मालूम होती थी और वह उसका ख़ूब मज़ाक़ बनाती थी; परन्तु भोली-भाली बालिका एलिज़बेथ इन बातों की कुछ भी परवाह नहीं करती थी। वह बड़ी गंभीर और उदार थी। इन छोटी-छोटी बातों का उस पर कुछ भी प्रभाव न पड़ता था। वह समझती थी कि जो काम वह कर रही है उससे बढ़कर कोई दूसरा काम हो ही नहीं सकता।

इस समय राजकुमार लुई विदेश में शिक्षा पा रहा था। वह बड़ा धीर, वीर, उदार और निर्भीक था। उसका विशाल हृदय करुणा से परिपूर्ण था।

लुई की वापिसी और विवाह

जब वह शिक्षा प्राप्त करके घर आया तब राजमहल की स्त्रियाँ एलिज़बेथ के विरुद्ध उसके कान भरने लगीं; परन्तु उसने उन लोगों की बातों में तनिक भी विश्वास नहीं किया। वह एलिज़बेथ को अच्छी तरह पहचानता था और उसके धार्मिक भावों को आदर की दृष्टि से देखता था। कालान्तर में उन दोनों का विवाह वार्टबर्ग-महल के गिरजे में बड़ी धूम-धाम से सम्पन्न हुआ और लुई एलिज़बेथ के साथ, राजसिंहासन पर बैठा।

एलिज़बेथ अब महारानी थी। उसे समस्त पार्थिव ऐश्वर्य उपलब्ध थे; परन्तु वह सब से विमुख रहती थी। वह सादे वस्त्र पहनती और सादा भोजन

दाम्पत्य जीवन

करती थी। ईश्वर-चिन्तन में निमग्न रहते हुए भी वह अपने पति की परिचर्या करने में कभी त्रुटि नहीं करती थी। पाश्चात्य सभ्यता के वातावरण में लालित-पालित होने पर भी उसने भारतीय नारियों का-सा हृदय पाया था। वस्तुतः उसका जीवन पति की सेवा और परमात्मा के चिन्तन में ही व्यतीत होता था। वह अपने पति के अतिथियों का आदर-सत्कार भी बड़े प्रेम से करती थी। वह

स्वयं खाना बनाती थी और परोसकर उन्हें खिलाने में अपना गौरव समझती थी। महारानी होने का गर्व उसमें लेशमात्र भी नहीं था। वह इतनी पति-परायण थी कि अपने स्वामी के बाहर चले जाने पर न वह अच्छे वस्त्र पहनती थी और न स्वादिष्ट भोजन ही करती थी। कभी-कभी तो कई दिनों तक एक दाना भी अपने मुख में न डालती थी। पवित्र शुक्रवार को वह साधारण स्त्रियों की भाँति आचरण करती थी। उस दिन वह किसी से सेवा-टहल भी नहीं लेती थी। संध्या समय वह नगर के बीच मैदान में जाकर असंख्य भिखारियों को खुले हाथों दान देती थी। वह पीड़ितों की पर्ण-कुटियों में जाती थी और उन्हें प्रत्येक प्रकार से सहायता देकर सान्त्वना देती थी। वह कुष्ट रोग से पीड़ित मनुष्यों के पास घण्टों बैठती थी और उनकी सेवा-शुश्रूषा करने में अपना सौभाग्य समझती थी। पति की आज्ञा से उसने राज-महल के निकट ही एक अस्पताल खोल दिया था जहाँ निर्धन रोगियों की चिकित्सा होती थी। इस प्रकार धर्मशीला एलिज़बेथ अपने पति के गले का हार बन कर दाम्पत्य जीवन का स्वर्गीय सुख अनुभव कर रही थी। सन् ११२३ ई० में उसके गर्भ से एक पुत्र-रत्न उत्पन्न हुआ। उसने तुरन्त नवजात शिशु को भगवान के चरणों में अर्पण कर दिया और उसे ईश्वर का प्रसाद समझकर अनुपम सुख अनुभव करने लगी।

लोक-सेवा-कार्य

एलिज़बेथ केवल भक्तिमती और पति-सेविका ही नहीं थी। वह राज-नीतिक कार्यों को भी अच्छी तरह समझती और जानती थी। एक बार सन् ११२५ ई० में जब उसके पति किसी कार्यवश बाहर चले गये, तब उसने समस्त शासन भार अपने हाथों में लेकर इतनी दूरदर्शिता और चतुराई से काम किया कि बड़े-बड़े अनुभवी राजनीतिज्ञ दाँतों तले अँगुली दबाने लगे। दैवयोग से उसी समय देश में भयंकर अकाल पड़ा। प्रजा भूखों मरने लगी। दानशीला एलिज़बेथ प्रजा का दारुण दुख न देख सकी। उसने अपना राजकोष और भाण्डार खोल दिया। सदाव्रत बँटने लगा। राज्य के कर्मचारियों ने इसका घोर विरोध किया; परन्तु उसने उनकी कुछ परवाह नहीं की। उसने अपने महल के

निकटवाले अस्पताल में बालकों की चिकित्सा का भी प्रबंध कर दिया और स्वयं वहाँ जाकर उनका पालन-पोषण करने लगी। अनाथ बच्चे जब उसे 'माता' कहकर पुकारते थे, तब उसे जो सुख अनुभव होता था वह वर्णनातीत है। उसकी इन सेवाओं से राजकर्मचारी बड़े असंतुष्ट थे। वह चाहते थे कि एलिज़बेथ महारानियों की भाँति महल में रहे और संसारिक सुख-भोग में अपना जीवन व्यतीत करे। इसलिए लुई के सुदूर यात्रा से लौटने पर उन्होंने महारानी के विरुद्ध बहुत-सी बातें कहीं; परन्तु उसने उनकी बातों पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। वह एलिज़बेथ को कंचन-पर्वत से भी अधिक मूल्यवान समझते थे और सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते थे कि महारानी के कोमल हृदय को किसी प्रकार ठेस न लगने पाये। दाम्पत्य जीवन का सुख ऐसे ही दो हृदयों के परस्पर सम्मिलन से प्राप्त होता है। सौभाग्यवती हैं वह स्त्रियाँ जिन्हें ऐसे पति मिलते हैं और सौभाग्य है उन पुरुषों का जिन्हें ऐसी धर्म-परायण स्त्रियाँ मिलती हैं!

एलिज़बेथ ने दाम्पत्य जीवन के ७ वर्ष बड़े सुख से व्यतीत किये, पर दुर्दैव ने उसे अधिक दिनों तक ऐसे आनन्दमय जीवन में न रहने दिया। सन् १२२७ ई० में लुई को योरप के अन्य नरेशों के साथ जेरुसलम की रक्षा के लिए धर्म-युद्ध में सम्मिलित होना पड़ा। जननी, पत्नी और पुत्र से विदा होकर वह जहाज़ में बैठे और पुण्य कार्य के लिए चल दिये; परन्तु मार्ग ही में वह ज्वर-ग्रस्त होने के कारण दो-तीन दिन के पश्चात् स्वर्गवासी हो गये। जब एलिज़बेथ को यह हृदय-विदारक समाचार मिला, तब वह बहुत दुःखी हुई। राजमाता सोफ़िया ने भी पुत्र-वियोग में बहुत आँसू बहाये। अन्त में दोनों को सन्तोष करना पड़ा।

पति की मृत्यु

राजमाता, सोफ़िया कुछ दिन पहले अपने पुत्र-वधू के विरुद्ध थी, पर जबसे उसने एलिज़बेथ की सेवाओं का मूल्य आँका था तब से वह उस पर विशेष रूप से कृपा करने लगी थी। पुत्र वियोग के पश्चात् तो वह एलिज़बेथ को ही सब कुछ समझती थी। सास की कृपा-पात्री होकर एलिज़बेथ भी अपने पति-वियोग का दुःख

निर्वासन

भूल-सी गई थी, परन्तु दुर्दैव से यह भी न देखा गया। स्वर्गीय लुई के भाई हेनरी ने राजकर्मचारियों से मिलकर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया और अपनी भाभी एलिज़बेथ को देश-निकाले का दंड दिया। उसकी दान-शीलता ही निर्वासन का कारण हुई। उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ली गयी। निर्वासिता एलिज़बेथ को आश्रय देनेवाला अब कोई न रह गया। कल की रानी आज भिखारिन बन गयी।

निर्वासन की कठिनाइयाँ

जाड़े की रात थी। शीतल पवन के झोंके चल रहे थे। शरीर ठिठुरन से काँप रहा था। ऐसे ही समय में निर्वासिता एलिज़बेथ अपनी दासी और बच्चों के साथ आश्रय की खोज में एक सराय तक पहुँची और सुअरों की कोठरी में बच्चो को सुलाकर विश्राम करने लगी। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने अपने आभूषण बेचकर बच्चों की क्षुधाग्नि शान्त की और वहाँ से एक उपासना-गृह की ओर प्रस्थान किया। हेनरी के गुप्तचर बराबर उसकी टोह में रहते थे। अतः उसे यहाँ रहना भी दूभर हो गया। अन्त में उसने अपने बच्चों को दासी के हाथों परदेश में किसी सम्बंधी के यहाँ भेज दिया और स्वयं इधर-उधर भिक्षा माँगकर ईश्वर की आराधना में अपना जीवन व्यतीत करने लगी। इसी प्रकार घूमते-फिरते वह अपने मामा के यहाँ पहुँची। वह धर्म-गुरु थे। उन्होंने उसे अपने यहाँ बड़े सुख से रखा। अब एलिज़बेथ ने अपने बच्चे भी बुला लिये और वह उसके साथ आनन्द-पूर्वक रहने लगी। उसके मामा बड़े दयाशील व्यक्ति थे। उन्होंने उससे पुनर्विवाह की चर्चा की, परन्तु उस पति-व्रता नारी ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

राज-महल में पुनः आगमन

हेनरी को एलिज़बेथ से व्यक्तिगत द्वेष नहीं था। उसके निर्वासन का कारण राजकर्मचारी-वर्ग था। उसी ने हेनरी को एलिज़बेथ के विरुद्ध उत्ते-जित किया था। यही कारण था कि जेरुसलम से लौटी हुई सेना के एक वीर सैनिक लार्ड वेरिला ने जब उन्हें देवी एलिज़बेथ के निर्वासन के सम्बंध में बुरा-भला कहा तब उन्होंने अपनी भूल स्वीकार की और एलिज़बेथ को पुनः बुलाने के लिए

अपने मामा के यहाँ कुछ सैनिक भेजे।

एलिज़बेथ जिस माया-मोह को त्यागकर भगवान की आराधना में निमग्न हुई थी उसमें पुनः प्रवेश करना नहीं चाहती थी। अतः उसने जाने से साफ़ इनकार कर दिया। जब हेनरी को इस बात की सूचना मिली तब वह घबड़ा गये। उन्होंने सोचा कि एलिज़बेथ राजसिंहासन लेने के लिए किसी-न-किसी षड्यन्त्र की रचना करती है। ऐसा विचार आते ही उनका कलुषित हृदय काँप उठा। वह तुरन्त अपनी माता सोफ़िया और लघु भ्राता के साथ अपनी भाभी की सेवा में उपस्थित हुए। सब एक दूसरे से गले मिले और प्रेम की गंगा बहने लगी। कलुषित हृदय विशुद्ध प्रेम से परिपूर्ण हो गये। एलिज़बेथ भी प्रेम की इस पवित्र धारा में बह गयी। उसे अपने बच्चों सहित राजमहल में लौट आना पड़ा।

हेनरी के आग्रह से एलिज़बेथ राज-महल में तो लौट आयी; परन्तु यहाँ उसका जी घबड़ाने लगा। वह अपने आराध्य देव के चरणों की सेवा के लिए जैसा शान्त वातावरण चाहती थी वैसा यहाँ न मिला। अन्त में उसकी भक्ति और ईश्वर-प्रेम देखकर राज-माता सोफ़िया तथा हेनरी ने उसके लिए मारवर्ग नगर के निर्जन तथा मनोरम स्थान में रहने का प्रबंध कर दिया और उस नगर का पूरा अधिकार उसके हाथों में दे दिया। इस कार्य के लिए देवी एलिज़बेथ ने बड़ी कृतज्ञता प्रकट की। वह अपने नवीन स्थान में चली गयी।

एकान्त निवास

नगर से तीन मील की दूरी पर उसने एक निर्जन पर्ण-कुटी बनवायी और उसी में रहकर वह तपस्या और पीड़ितों की सेवा करने लगी। वह अपने हाथ से भोजन बनाती थी और थोड़ा खाने के पश्चात् शेष भिक्षुकों को दे देती थी। मारवर्ग नगर की सारी आय वह परमार्थ ही में व्यय करती थी। भूखे को भोजन, वस्त्र-हीनों को वस्त्र और दीनों को दान देकर वह जो आनन्द अनुभव करती थी वह बड़े-बड़े राज-महलों में मिलना दुर्लभ था।

धीरे-धीरे एलिज़बेथ की दानशीलता की ख्याति हंगरी तक पहुँची। हंगरी के राजा को अपनी पुत्री के भिखारिन के वेष में जीवन व्यतीत करने

से बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने तुरन्त काउण्ट वेनी को उसे सादर राज-महल में लौटा लाने के लिए भेजा; परन्तु उसने वहाँ जाने से साफ़ इनकार कर दिया। दूत निराश होकर लौट गया।

मृत्यु

इस घटना के कुछ दिनों बाद सन् १२३१ ई० में उसने ज्वर-ग्रस्त होकर अपनी शरीर-यात्रा समाप्त की। उसका शव श्मशान भूमि में दफ़ना दिया गया। चार वर्ष पश्चात् रोम के पोप ने उसकी समाधि पर एक विशेष अनुष्ठान की योजना की और सम्राट् फ़ेडरिक द्वितीय ने अपने हाथ से उस पर एक बहुमूल्य स्वर्ण-मुकुट चढ़ाया। उस समय उसकी सब संतानें वहाँ उपस्थित थीं। इसी अवसर पर उसकी छोटी पुत्री ने अपनी माता की पुण्य स्मृति में संन्यास धारण कर लिया।

एलिज़बेथ का पार्थिव शरीर अब संसार में नहीं है; परन्तु उसकी पर्ण-कुटी में आज भी एक महान आत्मा निवास करती है जो पीड़ितों को दुःख में स्वर्गीय सुख अनुभव करने का दिव्य सन्देश देती है।

विज्ञानाचार्या मैडम क्यूरी

यह विज्ञान का युग है। मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसने अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है। जीर्ण-पर्ण-कुटी से लेकर गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं में रहनेवाले भी आज इसका लोहा मानते हैं और अपने जीवन के प्रत्येक क्षण में इसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। रेल, तार, टेलीफ़ोन, हवाई जहाज़, रेडियो इत्यादि का हमारे दैनिक जीवन से ऐसा सम्बंध स्थापित हो गया है कि हम इनकी उपेक्षा कर ही नहीं सकते। जीवन की ऐसी ही वस्तुओं में रेडियम का भी स्थान है। इसका आविष्कार जिस स्त्री द्वारा अभी हाल में हुआ है उसका नाम है मैडम क्यूरी।

मैडम क्यूरी का जन्म पोलैण्ड की राजधानी वारसा में ७ नवम्बर सन् १८६७ ई० को हुआ था। उसके जोशिया, ब्रोनिया तथा हीला नाम की तीन बहनें और जोसफ़ नाम का एक भाई था। उनमें वह सब से छोटी थी। इसलिए सभी उसपर स्नेह रखते थे और उसे मेरी कहकर पुकारते थे।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

मेरी ने अपनी बड़ी बहन से पढ़ना-लिखना सीखा और थोड़े ही दिनों में पुस्तक पढ़ने लगी। उसके पिता स्क्लोडोस्का वारसा के एक स्कूल में विज्ञान के अध्यापक थे। बालिका मेरी अपने पिता के मुख से दिन-रात विज्ञान की बातें सुना करती थी। परियों की कहानियों से इन बातों में उसे विशेष आनन्द मिलता था। उसके पिता की निजी प्रयोगशाला थी। इसी प्रयोगशाला में वह खेला करती थी और अपने पिता को भिन्न-भिन्न प्रयोग करते देख कर वह भी प्रयोग करने लगती थी। बाल्यावस्था का यह खेल धीरे-धीरे उसके हृदय में घर करने लगा। समझ आने पर उसके पिता ने उससे प्रयोगशाला का साधारण काम लेना शुरू कर दिया। इस प्रकार थोड़ी ही अवस्था में वह प्रयोग-

बाल्यावस्था

शाला की प्रायः सभी वस्तुओं से भलीभाँति परिचित हो गयी।

मेरी में बुद्धि थी, प्रतिभा थी और थी विज्ञान के प्रति सच्ची लगन। भावुक पिता ने उसकी रुचि को पहचान लिया था। इसलिए वह उसे बराबर प्रोत्साहित किया करते थे। भाषा और विज्ञान का साधारण ज्ञान कराने के पश्चात् उससे प्रयोग कराना भी आरम्भ करा दिया था। वह प्रत्येक प्रयोग बड़ी सावधानी से करती थी और सफल परिणाम पर पहुँचती थी। वह अपने परिणामों को एक नोटबुक में लिख लेती थी और उन पर घंटों मनन किया करती थी। किसी प्रयोग के असफल हो जाने पर वह उसे पुनः करती थी। कभी-कभी तो वह एक ही प्रयोग कई दिनों तक करती रहती थी और जब तक उसे उसमें सफलता नहीं मिलती थी तब तक वह उसका पीछा नहीं छोड़ती थी।

विज्ञान के साधारण प्रयोग

वह अधिकतर नवीनतम बातों की खोज में अपना समय लगाती थी। विभिन्न वस्तुओं को मिलाकर नयी वस्तु बनाना और उसके गुणों की परीक्षा करना उसे अत्यन्त रुचिकर था। इसका फल यह हुआ कि वह बहुत-सी चीज़ों के गुणों से अच्छी तरह परिचित हो गयी। उसकी स्मरण-शक्ति बहुत तेज़ थी। एक बार जिस बात को वह पढ़ या सुन लेती थी वह उसे बहुत दिनों तक याद रखती थी। उसने रसायन-शास्त्र पर कई पुस्तकें पढ़ी थीं, इसलिए उसे उस विषय का अच्छा ज्ञान हो गया था और लोग उसे मिस प्रोफ़ेसर की पदवी से आभूषित करते थे। १६ वर्ष की अवस्था में उसे एक स्वर्ण-पदक भी मिल चुका था।

मेरी के पिता की आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी। इसलिए विवश होकर मेरी को एक रूसी-परिवार में अध्यापन-कार्य करना पड़ता था। यह उसके जीवन का वह समय था जब रूस-निवासी पोलैण्ड-निवासियों पर खुल्लमखुल्ला अत्याचार कर रहे थे, प्रजा बुरी तरह लूटी जा रही थी और चारों ओर विपत्ति-ही-विपत्ति दिखायी देती थी। मेरी राष्ट्रीय विचार की थी। उसके कोमल हृदय में अपने देश के प्रति अगाध प्रेम था। ऐसे ही विचारवाले कुछ लोगों

क्रान्ति की ओर

ने रूसी स्वेच्छाचारिता का अन्त करने के अभिप्राय से कई गुप्त क्रान्तिकारी संस्थाएँ खोल दी थीं। इन संस्थाओं से मेरी का भी सम्बन्ध था। जब रूसी गुप्तचरों ने इन संस्थाओं के कार्य-कर्ताओं और उनकी गुप्त कारखाइयों के विषय में सरकार को सूचना दी तब पुलिसवालों ने लोगों को गिरफ़्तार करना शुरू कर दिया। मेरी वृद्ध स्त्री के वेष में अपनी जान बचाकर घर से भागी और अकेले पेरिस पहुँची।

पेरिस पहुँचने पर उसे आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उसके पास एक पाई तक नहीं थी। यहाँ आकर वह बड़े संकट में पड़ गयी।

पेरिस में

रूसी गुप्तचरों और पुलिस के भय से पोलैण्ड जाना उसके लिए बड़ा कठिन था। अन्त में किराये पर एक छोटी-सी कोठरी लेकर वह काम की खोज में निकली। बहुत परिश्रम करने पर उसे पेरिस-विश्वविद्यालय में बोतल साफ़ करने का काम मिला। कुछ दिनों तक वह यहाँ काम करती रही। धीरे-धीरे दो वैज्ञानिकों से उसका परिचय हो गया। उन्होंने उसकी वैज्ञानिक योग्यता देखकर उसे एम० क्यूरी की सहायता के लिए भेज दिया।

विवाह

एम० क्यूरी पेरिस के डाक्टर क्यूरी के द्वितीय पुत्र थे। इस समय वह भौतिक रसायन-शास्त्र सम्बन्धी शिल्प-विद्यालय की प्रयोगशाला के प्रधान अध्यापक थे। वह बड़ी सफलता पूर्वक वहाँ अध्यापन-कार्य कर रहे थे। विद्यार्थी-समुदाय उनके कार्य से बहुत संतुष्ट था। १२ वर्ष से वह अकेले इसी कार्य में लगे हुए थे। प्रयोगशाला का काम बहुत बढ़ गया था। अतएव वह एक ऐसी सुशिक्षिता युवती की तलाश में थे जो घर का काम-काज करने के अतिरिक्त प्रयोगशाला में उनकी सहायता भी कर सके। सौभाग्य से ऐसे अवसर पर प्रयोगशाला में मेरी का आगमन हुआ। उसने वहाँ नौकरी कर ली। विज्ञान के प्रति दोनों के हृदय में अत्यन्त प्रेम था। दोनों एक साथ प्रयोग करते थे। एम० क्यूरी को जब उसकी असाधारण बुद्धि का परिचय मिल गया तब उन्होंने मेरी से विवाह का प्रस्ताव किया। मेरी भी

राज़ी हो गयी। इस प्रकार सन् १८९५ ई० में दोनों का विवाह हो गया। इस समय एम० क्यूरी की आयु ३६ वर्ष और मेरी की आयु २८ वर्ष की थी।

मैडम क्यूरी बड़ी पतिपरायण स्त्री थी। वह ऊपरी तड़क-भड़क से घृणा करती थी। अपने काम से उसे काम था। उसके स्वभाव में दृढ़ता थी। वह आदर्श माता और आदर्श पत्नी थी। १२ सितम्बर सन् १८९७ ई० को उसके गर्भ से एक पुत्री उत्पन्न हुई जिसका नाम ऐरिन क्यूरी रखा गया। अपनी नवजात बालिका के पालन-पोषण के पश्चात् जो समय बचता था उसे वह विज्ञान के अध्ययन में ही व्यतीत करती थी। तीन वर्ष तक अनवरत परिश्रम करने के पश्चात् सन् १८९८ ई० में उसने गणित और भौतिक विज्ञान में डिग्री प्राप्त कर ली और नये-नये प्रयोग करने लगी। वह अपने मित्रों से भौतिक विज्ञान सम्बन्धी विभिन्न विषयों पर वादविवाद करती थी।

दाम्पत्य जीवन

उस समय कई आविष्कारों ने वैज्ञानिक-क्षेत्र में बड़ा तहलका मचा दिया था। सर विलियम क्रुक्स ने 'केथोड रेज़' की खोज की थी और सर जोसेफ़ टॉम्सन तथा अन्य वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया था कि इन किरणों में ऋण-विद्युत के परमाणु विद्यमान हैं। रॉटेजन ने रञ्जन-किरणों ('ऐक्सरे') का आविष्कार किया था। इन आविष्कारों ने विज्ञानवेत्ताओं को ऋण-विद्युत के परमाणुओं का गुण मालूम करने के लिए अधिक प्रोत्साहन किया और उन्होंने सब प्रकार के विकिरण की खोज आरंभ कर दी। सन् १८९६ ई० में बेक्वेरल नाम के एक विज्ञान-विशेषज्ञ ने यूरेनियम धातु पर प्रयोग किया और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि यूरेनियम में विकिरण का गुण मौजूद है।

यूरेडियम का आविष्कार

इन आविष्कारों ने मैडम क्यूरी को प्रोत्साहित कर दिया। उसने बेक्वेरल के परिणामों के आधार पर अपना कार्य आरंभ किया। यूरेनियम की कच्ची धातु पर प्रयोग करने से उसे पता चला कि जितना यूरेनियम उसमें है उससे चार गुनी रश्मि-विकिरणशीलता कच्चे यूरेनियम में अधिक है। इससे उसने यह नतीजा निकाला कि यूरेनियम के अतिरिक्त कच्चे यूरेनियम (पिच

ब्लेण्डी) में रश्मि-विकिरणशीलतत्त्व विद्यमान है। उसके पति ने इस कार्य में उसकी बड़ी सहायता की और आस्ट्रिया की तत्कालीन सरकार ने उसे एक टन (लगभग २७ मन १० सेर) कच्चा यूरेनियम (पिच ब्लेण्डी) प्रयोग करने के लिए बिना मूल्य प्रदान किया। अब वह अपने प्रयोग में बड़ी तत्परता से लग गयी। उसने अहर्निशि प्रयोगशाला में रहकर लगभग चार वर्षों तक कठिन परिश्रम किया।

सन् १६०२ ई० में एक दिन उसकी आशा-लता लहलहा उठी। वह अपने प्रयोग में सफल हो गयी। उसे बिस्मुथ और बेरियम में दो रश्मि-विकिरण-तत्त्व मिले। पहले का नाम पोलियम और दूसरे का नाम रेडियम रखा गया। रेडियम अत्यन्त उपयोगी वस्तु है। इसे प्रयोग करना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। इसका छोटे-से-छोटा टुकड़ा भी त्वचा को जला सकता है। ऐसी अनोखी वस्तु का आविष्कार करके उसने वैज्ञानिकों को एक अमूल्य रत्न प्रदान किया।

नोबेल पुरस्कार

सन् १६०३ ई० में मैडम क्यूरी ने अपने परिणामों का विवरण तैयार करके निबंध के रूप में पेरिस की विज्ञान-परिषद् के सामने डाक्टर की उपाधि के लिए पेश किया। इससे उसकी ख्याति सर्वत्र फैल गई। उसी वर्ष मैडम क्यूरी और उसके पति को इङ्गलैण्ड के रायल इंस्टीट्यूशन में अपने प्रतिपाद्य विषय पर व्याख्यान देने के लिए निमंत्रण मिला। वह वहाँ गयी। उसके व्याख्यान से लोग बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने रायल सोसायटी का डेवी-पदक दोनों को देकर सम्मानित किया।

उस वर्ष लगभग एक लाख बीस हज़ार रुपये का नोबेल पुरस्कार भी बेकवेरल और उनमें विभाजित कर दिया गया। सन् १६०४ ई० में सोरबोन

पति-वियोग

विश्वविद्यालय में विशेष रूप से उन दम्पतियों के लिए एक विभाग खोला गया। जिस विश्वविद्यालय की प्रयोगशाला में वह एक दिन बोतल साफ़ करने के काम पर नियुक्त हुई थी आज वह वहाँ की प्रधान थी। वस्तुतः रेडियम के आविष्कार ने उसका

सोया हुआ भाग्य जगा दिया था। इस प्रयोगशाला में पति और पत्नी बड़े प्रेम से काम करने लगे परन्तु दो वर्ष पश्चात् १६ अप्रैल सन् १६०६ ई० को मैडम क्यूरी का जीवन-साथी चल बसा। वह अकेली रह गयी।

मैडम क्यूरी को पति-वियोग से बड़ा दुःख हुआ। उसकी विज्ञान-पिपासा अभी शान्त नहीं हुई थी। गोद में दो सुन्दर बच्चे थे। भावी जीवन का निर्जन-पथ उसके सामने था। मैडम क्यूरी धीर और गंभीर थी। उसने अपना समय विज्ञान की पिपासा को शान्त करने ही में लगाया था। वह दिन-रात प्रयोगशाला में रहती थी और रेडियम पर प्रयोग किया करती थी। सन् १६१० ई० में उसने रेडियम का परमाणु-भार निकाला और सन् १६११ ई० में उसे पुनः नोबेल पुरस्कार पाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। स्वेडन की रायल एकेडेमी ने उसे एकेडेमीशियन की पदवी देकर सम्मानित किया; परन्तु फ्राँस की तत्कालीन सरकार ने इसे स्वीकार नहीं किया। इसका कारण केवल यह बतलाया गया कि वह स्त्री थी।

द्वितीय बार नोबेल पुरस्कार

इस घटना के थोड़े ही दिन पश्चात् सन् १६१४ ई० में महायुद्ध छिड़ गया। फ्राँस को विवश होकर एक रेडियम-संस्था का आयोजन करना पड़ा। मैडम क्यूरी उक्त संस्था की प्रधान नियुक्त की गयी। इसके बाद सन् १६१६ में वह अपने घर वारसा चली गयी। वहाँ वह रेडियो-शास्त्र पढ़ाने के लिए प्रोफ़ेसर नियुक्त की गयी। उसी समय उसके सम्मान में एक रेडियम का अस्पताल भी खोला गया। वह इस अस्पताल में भी काम करती रही।

६ अक्तूबर सन् १६२६ को उसने अपनी बड़ी पुत्री का विवाह फ्रेड्रिक जोलियट के साथ किया। वह भी उसकी पुत्री की भाँति विज्ञान का बड़ा विद्वान था।

मैडम क्यूरी विज्ञान-जगत की अनुपम विभूति थी। वह संसार की सर्वप्रथम महिला थी जिसने दो बार नोबेल पुरस्कार प्राप्त किया था। उसमें अपने काम के लिए लगन थी। उसके जीवन का एक ध्येय था। जब तक वह अपने ध्येय तक नहीं पहुँची तब तक वह सुख से नहीं सोयी। यही नहीं उस

ध्येय को प्राप्त करने के पश्चात् भी वह अपने उसी काम में लगी रही।

वह सीधी-सादी स्त्री थी। इतना यश और गौरव मिलने पर भी उसमें लेशमात्र भी गर्व नहीं था। उसका हृदय अत्यन्त कोमल और उदार था।

मृत्यु

दूसरो के दुःख मे वह सदैव शामिल होती थी और यथा संभव उन्हें सहायता देती थी। वह सफल माता और गृहिणी थी। उसने अपनी पुत्रियों का पालन-पोषण वैज्ञानिक ढङ्ग से किया था। यही कारण था कि उसकी एक पुत्री एरिनी जेलियट क्यूरी को सन् १९३५ ई० मे रसायन-शास्त्र पर नोबेल पुरस्कार मिला। दुर्भाग्यवश वह इस प्रसन्नता में भाग न ले सकी क्योंकि ४ जुलाई सन् १९३४ ई० को ही वह इस असार संसार से सदैव के लिए विदा हो चुकी थी।

हेलेन केलर

परमात्मा ने संसार के प्रत्येक जीवधारी को ऐसी शक्तियाँ दी हैं जिनके द्वारा वह जन्म लेते ही ज्ञानार्जन करने लगता है। वह आँखो से देखता है, कानों से सुनता है, जिह्वा से वस्तुओं का रस लेता है, त्वचा से कठोरता और कोमलता का अनुभव करता है तथा नासिका से सुगन्ध और दुर्गन्ध की पहचान करता है। समस्त जीवधारियों में मानव-प्राणी ही ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का उचित रीति से उपभोग करता है। यदि आँखें बेकार हो गयीं, कानों ने जवाब दे दिया, जिह्वा ने अपना कार्य बन्द कर दिया, त्वचा मोटी पड़ गयी और नासिका गन्ध का ज्ञान न कर सकी तो मनुष्य का जीवन व्यर्थ हो जाता है। वह इन शक्तियों के अभाव में कुछ नहीं कर सकता। इसलिए इन्हें ज्ञानेन्द्रियाँ कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियों का होना मनुष्य के बौद्धिक एवं मानसिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है; फिर भी प्रायः यह देखा जाता है कि मानव-समाज में कुछ लोग प्रमुख ज्ञानेन्द्रियों से वंचित रहते हैं और उनके अभाव में कृत्रिम उपायों द्वारा ज्ञानार्जन करते हैं। हेलेन केलर ऐसी ही एक महिला-रत्न है। वह अंधी, बधिर और गूँगी है। ईश्वर की केवल दो शक्तियाँ उसके पास हैं। उसने उन्हीं का उपयोग उत्तम रीति से किया है। इसका फल यह है कि वह समस्त शक्तियों से सम्पन्न स्त्री तथा पुरुषों से भी आगे बढ़ गयी है।

हेलेन केलर का जन्म संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में २७ जून सन् १८८० ई० को हुआ था। वह बड़ी सुन्दर बालिका थी। अपने शिशु-जीवन के उन्नीसवें

जन्म-स्थान

महीने में वह बीमार पड़ी। रोग अत्यन्त घातक था। उससे तो वह बच गयी; परन्तु उसकी आँखें जाती रहीं। इसके साथ-ही साथ वह गूँगी और बहरी भी हो गयी। इस प्रकार शरीर के तीनों प्रमुख ज्ञान-द्वार बन्द हो गये। माता-पिता को अपनी

बालिका की इस दशा पर बड़ा दुःख हुआ। उन्होंने अच्छे-अच्छे डाक्टरों से उसकी चिकित्सा भी करायी, परन्तु सब निष्फल हुई। विधि के विधान पर किसी का भी बस न चल सका।

हेलेन बड़ी समझदार बालिका थी। वह प्रत्येक वस्तु को हाथों में लेकर खूब टटोलती थी और उसका आकार अनुमान कर लेती थी। वह संकेतों द्वारा अपनी माता से इच्छित वस्तु माँग लेती थी और उसे पा जाने पर बड़ी प्रसन्न होती थी; परन्तु जब उसकी माता उसके संकेतों के समझने में असमर्थ हो जाती थी तब रोष से उसका मुखमंडल रक्तवर्ण हो जाता था। उस समय वह बहुत शोर-गुल मचाती थी। ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती गयी; त्यों-त्यों उसमें अपनी इच्छाओं को संकेतों द्वारा प्रकट करने की लालसा प्रबल होती गयी और इसके साथ-ही उनकी अपूर्ति होने पर उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन बढ़ता गया। कभी-कभी तो वह इतना रोषित हो जाती थी कि उसके माता-पिता घबरा जाते थे। अन्त में विवश होकर उन्होंने उसे कुमारी एन सुलीवाँ के सुपुर्द कर दिया।

बाल्यावस्था

कुमारी एन सुलीवाँ अन्धों के स्कूल में अध्यापिका थीं। वह भी अपने बाल्यकाल में अन्धी हो गयी थीं। लगभग छः वर्ष तक उन्होंने अन्धों के स्कूल में शिक्षा प्राप्त की थी। इसके पश्चात् उनकी आँखों में थोड़ी ज्योति भी आ गयी थी। हेलेन के पिता ऐसी ही अध्यापिका की तलाश में थे। अतएव उन्होंने जब अन्धों के पर्किंस इंस्टीट्यूट के अधिकारियोंको अपनी बालिका की शिक्षा के लिए लिखा तब कुमारी एन सुलीवाँ ही भेजी गयीं। वह इस प्रकार की शिक्षा में अत्यन्त निपुण थीं। छः वर्ष की हेलेन उन्हीं की देख-रेख में शिक्षा पाने लगी।

शिक्षा का क्रम

हेलेन हठी स्वभाव की थी। ज़रा-ज़रा सी बात में वह बिगड़ जाती थी। किसी की आज्ञा मानना तो उसके स्वभाव के बिलकुल प्रतिकूल था। माता-पिता ने प्रेम के कारण आज्ञा-पालन करना उसे सिखाया ही नहीं था। जब वह किसी बात के लिए हठ करती थी तब उसकी माँ उसे प्रसन्न करने के

लिए तुरन्त कोई-न-कोई उपाय करने लगती थी। इससे हेलेन की आदत बिगड़ गयी थी। वह छुरी-काँटे के बजाय उँगलियों से भोजन करती थी। चम्मच उठाकर फेंक देती थी और मना करने पर ज़मीन पर लेटकर बड़ी देर तक रोती थी।

कुमारी सुलीवाँ ने पन्द्रह दिन में इस बिगड़ी हुई बालिका को सुधार दिया। उन्होंने पहले उसे आज्ञा पालन करना सिखाया और इसी बीच कुछ शब्दों से परिचित करा दिया। इसके पहले वह एक शब्द भी नहीं जानती थी। मिस सुलीवाँ उसे एक गुड़िया खेलने के लिए दे देती थीं और उसके हाथों पर अँगरेज़ी अक्षरों में लिख भी देती थीं। हेलेन को इस खेल में बड़ा आनन्द आने लगा। वह उन अक्षरों को बनाने का प्रयत्न करने लगी। धीरे-धीरे वह शब्दों से परिचित हो गयी; परन्तु शब्द किसे कहते हैं और उनका क्या तात्पर्य है यह उसे मालूम न हो सका।

शब्दों का ज्ञान

एक दिन एक मनुष्य टोंटी से पानी ले रहा था। मिस सुलीवाँ ने टोंटी के नीचे उसका एक हाथ लगा दिया और दूसरे हाथ पर अँगरेज़ी अक्षरों में वाटर (पानी) लिख दिया। उसी दिन हेलेन को नाम और वस्तु में सम्बन्ध मालूम हो गया। वह जान गयी कि संसार में प्रत्येक वस्तु का कोई-न-कोई नाम अवश्य होता है। बस, फिर क्या था! उसने उसी दिन हँसते-हँसते ३० शब्द सीख लिये। उस दिन से जिस वस्तु को वह छूती थी उसी का नाम याद कर लेती थी और अपनी इच्छा लोगों के हाथों पर लिखकर प्रकट कर देती थी। अभी उसे वाक्य बनाना नहीं आता था। केवल शब्दों द्वारा ही वह अपना अभिप्राय प्रकट कर पाती थी।

वाक्यों का ज्ञान

कुमारी सुलीवाँ हेलेन की शिक्षा में बड़ा आनन्द अनुभव करती थी। वह उसे अपने साथ खेतों में ले जाती थी और वहाँ पौदों के विषय में बहुत-सी बातें बताती थी। कभी-कभी वह सरिता-तट की ओर भी निकल जाती थी। हेलेन का ऐसे स्थानों में बहुत जी लगता था। उसने ताप, शीत और वर्षा के सम्बन्ध में

इसी प्रकार घूम-फिरकर बहुत-सी बातें सीख ली थीं। वह यह भी जान गयी थी कि चिड़ियाँ किस प्रकार अपना घोसला बनाती हैं और अपना पेट भरने के लिए चारा इकट्ठा करती हैं। इन साधारण बातों का ज्ञान कुमारी सुलीवाँ ने हेलेन को केवल हाथों पर सकेतों द्वारा कराया था।

हेलेन बड़ी भावुक और प्रतिभा सम्पन्न थी। उसने धीरे धीरे उभरे हुए मुद्रणाक्षरों द्वारा लिखना तथा पढ़ना सीख लिया और थोड़े ही दिनों में वह अपने मित्रों को पत्र भी लिखने लगी। आरंभ मे उसके वाक्य अधूरे और छोटे-छोटे होते थे। एक वर्ष के निरन्तर अभ्यास के पश्चात् वह बड़े-बड़े पत्र लिखने लगी। आठ वर्ष की अंधी, बधिर तथा गूँगी बालिका की इस उन्नति पर बहुत से लोगों को बड़ा आश्चर्य होता था। एक साल पहले उसे एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं था। अब आँखोंवाले बालक भी उसका मुक़ाबला नहीं कर सकते थे। ऐसी तीव्र बुद्धिवाली थी वह अन्धी हेलेन!

भाषा का साधारण ज्ञान हो जाने के पश्चात् हेलेन अन्य विषयों का अध्ययन करने लगी। गणित में उसकी विशेष रुचि थी। वह विषम भिन्न अच्छी तरह लगा सकती थी। एक दिन एक प्रश्न ने उसे बहुत तंग किया। वह बड़ी देर तक उस प्रश्न को हल करती रही, परन्तु वह सही न हो सका। अन्त मे कुमारी सुलीवाँ ने उसे घूम फिरकर थोड़ी देर विश्राम करने की सलाह दी। हेलेन इस बात पर राजी नहीं हुई। वह अन्त तक बैठी रही और प्रश्न का उत्तर निकाल कर ही उठी। उसकी यही लगन उसके जीवन को महत्त्वपूर्ण बना सकी। वह बड़े दृढ़ विचार की बालिका थी। जिस काम को वह अपने हाथ में ले लेती थी उसे वह पूरा करके ही दम लेती थी।

गूँगे प्रायः बधिर होते हैं। वह दूसरों की बातें सुन ही नहीं सकते। यदि वह लोगों को बोलते समय देखते रहें तो उसी तरह अपने होठ हिला-डुलाकर थोड़ा-बहुत बोलना सीख सकते हैं। हेलेन गूँगी और

बोलने का अभ्यास

बधिर तो थी ही, अंधी भी थी। अतएव बोलते समय दूसरों का अनुकरण करना भी उसके लिए अत्यन्त कठिन था! फिर वह बोलना कैसे सीख सकती थी! वह बोलने की बहुत चेष्टा करती

थी; परन्तु बराबर असफल रहती थी। कुमारी सुलीवाँ उसे बहुत हतोत्साह करती थीं। वह उसे इस दिशा में व्यर्थ परिश्रम करने की बिलकुल सलाह न देती थीं; परन्तु अपने लगन की पक्की होने के कारण हेलेन कभी हिम्मत नहीं हारती थी। वह बोलने के लिए बराबर प्रयत्नशील रहती थी। यह देख-कर एक दिन कुमारी सुलीवाँ उसे कुमारी फुलर के पास ले गयीं।

कुमारी फुलर होठों द्वारा पढ़ाने में बड़ी पटु थीं। उन्होंने अंधी हेलेन का हाथ अपने मुख-मंडल पर रखकर जिह्वा तथा होठों की स्थिति बतलायी और कतिपय अक्षरों का उच्चारण किया। हेलेन उसी प्रकार अनुकरण करने लगी और एक घण्टे में उसने छः अक्षरों का उच्चारण सीख लिया। कुमारी फुलर ने उसे कुल ग्यारह पाठ पढ़ाये और टूटे-फूटे शब्दों में उसे बोलना सिखा दिया। हेलेन का स्वप्न सत्य हो गया। अब तो वह अहर्निशि बोलने का अभ्यास करने लगी। कुमारी सुलीवाँ उसे बराबर सहायता प्रदान करती रहीं। इसमें सन्देह नहीं कि कभी-कभी उसे बड़ी निराशा होती थी। वह हतोत्साह होकर बैठ जाती थी; परन्तु फिर थोड़ी ही देर में उसमें साहस आ जाता था और वह अपने कार्य में लग जाती थी। वह सदैव धैर्य और संतोष से काम लेती थी। वह छः वर्ष तक लगातार परिश्रम करती रही और अन्त में एक दिन इस योग्य हो गयी कि उसने एक सार्वजनिक सभा में भाषण देकर लोगों को चकित कर दिया।

१४ वर्ष की अवस्था में हेलेन ने बधिरों की पाठशाला में अपना नाम लिखा लिया। कई विषयों के साथ उसने लेटिन, फ्रेंच, तथा जर्मन भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। १६ वर्ष की अवस्था पाठशाला में प्रवेश में वह एक साधारण पाठशाला में दाखिल हो गयी और विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए तैयारी करने लगी। वह बधिर थी, इसलिए मिस सुलीवाँ उसके साथ बैठकर कुल बातें लिख लेती थीं और उन्हें उभरे हुए मुद्रणाक्षरों द्वारा हेलेन को समझा देती थीं। अन्य अध्यापिकाएँ भी व्यक्तिगत रूप से उसकी सहायता करती थीं। इस प्रकार परिश्रम करके १७ वर्ष की अवस्था में उसने विश्वविद्यालय की प्रारंभिक

परीक्षा जर्मन, फ्रेंच, लेटिन, इँग्लिश, ग्रीक तथा रोम के इतिहास में पास कर ली और जर्मन तथा इँग्लिश में विशेष योग्यता प्राप्त की। उन्नीसवें वर्ष वह अन्तिम परीक्षा पास करके कालेज में दाख़िल हो गयी।

कालेज-जीवन

अपने कालेज-जीवन में हेलेन को कई प्रकार की कठिनाइयाँ अनुभव करनी पड़ीं। उसकी बहुत-सी पुस्तकें ब्रेल टाइप में नहीं थीं। इसलिए उसे अपने हाथों पर दूसरों से कठिन शब्दों के हिज्जे कराना पड़ता था। इस कार्य में उसका अधिक समय लग जाता था। जब उसकी सहेलियाँ बाहर खेला करती थीं तब वह अपना पाठ तैयार करने में लगी रहती थी। इस प्रकार उसने बड़ी सफलता-पूर्वक अपने कालेज की पढ़ाई समाप्त की। उसने बहुत-से देशों का साहित्य तथा इतिहास अध्ययन किया और कई विषयों का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया।

खेल-कूद में भी हेलेन की बहुत रुचि थी। वह बाहर ख़ूब खेलती थी। तैरना तो उसने बाल्यावस्था ही में सीख लिया था। अब वह नाव खेना भी अच्छी तरह जान गयी थी। वह अपने मित्रों के साथ नाव में बैठकर ख़ूब सैर करती थी। नौका-विहार में उसे विशेष आनन्द मिलता था। वह प्रातःकाल के समय नित्य टहलने भी जाया करती थी। घोड़े की सवारी का उसे बहुत शौक़ था। वह साइकिल पर चढ़ना भी जानती थी। छोटे-छोटे बच्चों के साथ वह बहुत शोर-गुल मचाती थी और ख़ूब खेलती थी। वह अपने समान अंधे, बधिर, तथा गूँगे बालक-बालिकाओं की बहुत सहायता करती थी। उन्हें वह पढ़ाती थी और उनके लिए वह सुन्दर पुस्तकें तथा अक्षर लिखा करती थी।

हेलेन अभी जीवित है। वह रैडक्लिफ़ कालेज की ग्रेजुएट है। उसने दो पुस्तकें भी लिखी हैं। एक पुस्तक में उसने अपने जीवन की कहानी अत्यन्त सरल एवं रोचक भाषा में लिखी है। यह सन् १९०२ ई० में लिखी गयी है। दूसरी पुस्तक 'दि वर्ल्ड आइ लिव इन' १९०८ ई० की लिखी हुई है। इन दोनों पुस्तकों का अँगरेज़ी साहित्य में अच्छा आदर है।

हेलेन बड़ी भद्र महिला है। सिनेमा-जगत के प्राण, चार्ली चेपलेन से उसकी बड़ी मित्रता है। वह अमेरिका के प्रेसीडेण्ट से भी मिलती है और बड़े-बड़े साहित्य-प्रेमियों तथा विद्वानों से उसकी जान-पहचान है। संसार के इतिहास में अन्य वीराङ्गनाओं की भाँति हेलेन भी एक वीराङ्गना है। वह ईश्वर की शक्तियों से लड़ने वाली है। उसका जीवन केवल अंधो बधिरों अथवा गूँगों के लिए ही नहीं, वरन् ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों से सम्पन्न स्त्री-पुरुषों के लिए भी आदर्श है। वह अपने लगन की सच्ची और अपने ध्येय की पक्की है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों के रहते हुए सभी सब कुछ कर सकते हैं, परन्तु प्रमुख ज्ञानेन्द्रि-विहीना हेलेन संसार की अद्भुत प्राणी है।

संन्यासिनी कैथरिन

योरप की भक्तिमती नारियों में देवी कैथरिन को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त है। उसका जन्म सन् १३४७ ई० में इटली के अन्तर्गत सापेना नगर में हुआ था। उसके पिता का नाम जेकोपो था। वह बड़ा धार्मिक, सरल-चित्त और दयावान था। उसी प्रकार उसकी पत्नी लापा भी बड़ी स्नेहमयी और पतिपरायण नारी थी। ऐसे वातावरण का कैथरिन के शिशु-जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वह अपने माता पिता के मुख से सन्त-महात्माओं का जीवन चरित्र सुना करती थी। और उन्हीं का-सा आचरण करती थी। फलस्वरूप धर्म में उसकी आस्था बढ़ने लगी। साधारण खेल-कूद में उसका जी ही नहीं लगता था। परियों और जानवरों की कहानियाँ उसे सारहीन और नीरस प्रतीत होती थीं। धार्मिक चर्चाओं में उसे विशेष रूप से आनन्द मालूम होता था। देखनेवाले उसकी इस प्रवृत्ति पर आश्चर्य करते थे और बड़े स्नेह से उसे खेलाते थे।

जन्म-स्थान तथा वंश-परिचय

कैथरिन बड़ी सुन्दर थी। उसके भोले-भाले मुख पर अपूर्व तेज था। मधुर हास्य की रेखा उसके मुख-मंडल पर सदैव खेला करती थी। इसीलिए वह आकर्षण की सजीव वस्तु बन गयी थी। उसे जो देखता था वही थोड़ी देर तक उससे बातें कर के अपना हृदय शीतल करता था। उसकी वाणी में अभूतपूर्व चमत्कार और मार्दव था। वह बड़े-बड़े संतों की-सी बातें करती थी और अपनी वाग्धारा से कलुषित हृदय का मल धोकर बहा देती थी। ऐसी प्रतिभा-सम्पन्न बालिका किशोरावस्था में पदार्पण करते ही और भी खिल उठी।

बाल्यावस्था

शिशु-जीवन के सरल हृदय में धार्मिक भाव के जो बीज पड़ गये थे वह समय पाकर अंकुरित होने लगे। माता की गोद से प्रकृति की गोद में उसे विशेष आनन्द मिलने लगा। वह प्रायः प्रातःकाल की स्वर्णिम

रश्मियों के साथ नृत्य करती हुई किसी निर्जन स्थान में पहुँच जाती थी और वहाँ ईश्वर की आराधना में तन्मय हो जाती थी। उस समय उसे संसार की प्रत्येक वस्तु ईश्वर की साकार मूर्ति जान पड़ती थी। किशोरावस्था की यह तन्मयता यौवन-काल में और भी रंग लायी। अतएव उसने निश्चय कर लिया कि वह आजन्म ब्रह्म-चारिणी रहकर अपना जीवन व्यतीत करेगी।

कैथरिन के माता पिता अभी उसके हृदय की गहराई तक नहीं पहुँचे थे। उनका विश्वास था कि बाल्यकाल का यह ईश्वरीय प्रेम यौवन की उमङ्गों के साथ फीका पड़ जायगा। इसी विचार से उन्होंने कभी कैथरिन के प्रेम-मार्ग में रोड़े नहीं अटकाये, परन्तु जब उन्होंने अपनी पुत्री के मुख से आजन्म ब्रह्मचारिणी रहने की प्रतिज्ञा सुनी तब उनकी आँखें खुल गयीं। उन्होंने उसे उसके निश्चित मार्ग से विचलित करने की बहुत चेष्टा की, परन्तु अन्त में उन्हें असफलता ही हाथ लगी।

धर्म में अटल विश्वास

एक दिन उनके कुछ सम्बन्धियों ने एक युवक बुलाकर कैथरिन के पास भेजा। कैथरिन बड़ी चतुर थी। वह अपने सम्बन्धियों की मन्त्रणा ताड़ गयी। उसने उस युवक की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखा। युवक उदास होकर चला गया। इस घटना से घरवाले बड़े रुष्ट हुए और कैथरिन पर बुरी तरह फटकार पड़ी, परन्तु उसने इन बातों की तनिक भी चिन्ता नहीं की। वह अपने निश्चय पर पर्वत के समान अटल रही। उसकी यह दशा देखकर एक बनावटी धर्मोपदेशक ने उसे यह कहकर धमकाना चाहा कि स्त्रियों को संन्यास लेने पर बाल कटवा देने पड़ते हैं। कैथरिन के बाल बड़े सुन्दर थे। उनका उसे मोह भी अधिक था, परन्तु अपने मार्ग में विघ्न पड़ते देखकर उसने तुरन्त कैंची उठायी और एक ही बार में सब बाल काट डाले। धर्मोपदेशक अपना-सा मुँह लेकर रह गया।

कैथरिन यौवन की तरङ्गों में झूल रही थी। उसका मन कभी चंचल होता था और कभी संन्यास की ओर झुकता था। एक ओर खाई थी, दूसरी ओर गगनस्पर्शी पर्वत। यौवन का अल्हड़पन उसे किस ओर ले

जायगा, यह वह स्वयं नहीं समझती थी। उसे अपने आराध्यदेव में विश्वास था। वही उसका पथ-प्रदर्शन कर रहे थे। इसलिए कैथरिन बड़ी सावधानी से अपने पथ पर चली जा रही थी। वह अपने आचरण पर बड़ा नियंत्रण रखती थी। मांसाहार, सुगन्धित वस्तुएँ, सुन्दर वस्त्र और आभूषण, आमोद-प्रमोद और नृत्यादि से उसे घृणा हो गयी थी। एकान्त में रहना और ईश्वर-भजन करना ही उसे अधिक प्रिय था।

धर्म की परीक्षा

माता-पिता ने उसकी यह दशा देखकर अपने नौकरों और परि-चारिकाओं को जवाब दे दिया। उन लोगों का कुल काम कैथरिन को सौंप दिया गया। रसोई बनाना, झाड़ू देना, प्रत्येक वस्तु को उचित स्थान पर रखना इत्यादि कामों का भार उस पर छोड़ दिया गया। उसने अब तक घर का कोई काम नहीं किया था, परन्तु अपनी परीक्षा के दिन समझकर उसने बड़े हर्ष से इस बोझ को अपने सिर पर उठा लिया और इतनी कुशलतापूर्वक प्रत्येक कार्य किया कि उसके माता-पिता ने कभी किसी से उसके आलस्य अथवा कुप्रबन्ध की शिकायत नहीं की। वह दिन भर घर का सारा काम करती थी और रात में अपने आराध्य देव के चरणों की सेवा में लीन रहती थी। कभी-कभी उसके हृदय में दैवी-प्रेम का इतना भयंकर उफ़ान उठता था कि वह चेतना-शून्य हो जाती थी और उसकी आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगती थी। एक दिन सौभाग्य. से उसके पिता ने उसे इस तन्मयता की अवस्था में देख लिया। उनका हृदय द्रवित हो गया। उन्हें कैथरिन की असाधारण बुद्धि का परिचय मिल गया। वह संतुष्ट हो गये। कैथरिन परीक्षा में पास हो गयी। वह घर के काम-काज से मुक्त कर दी गयी।

इस समय कैथरिन की अवस्था केवल १५ वर्ष की थी। संन्यास लेने में अभी तीन वर्ष की अवधि शेष थी। इसलिए वह बड़े संयम से रहने लगी। वह पृथ्वी पर सोती थी, मोटे वस्त्र पहनती थी और साधारण भोजन करती थी। दीन-दुखियों की सेवा में उसे विशेष आनन्द मिलता था। रात होने पर वह ईश्वर की आराधना करती थी। वह शरीर-सुख को ईश्वर-प्राप्ति में

बाधक समझती थी। इसलिए कभी-कभी वह उसे लोहे की ज़ंजीरों से जकड़ देती थी। वह केवल शरीर-निर्वाह के लिए भोजन करती थी। इसी प्रकार उसने तीन वर्ष व्यतीत किये। अब वह अठारह वर्ष की हो गयी थी।

कैथरिन सेण्ट डोमिनिक-सम्प्रदाय के नियमानुसार संन्यास लेना चाहती थी। इसलिए उसने अपने माता-पिता के सामने उक्त सम्प्रदाय में दीक्षित होने का प्रस्ताव उपस्थित किया। माता उसका प्रस्ताव सुनकर रोने लगी; परन्तु उदार पिता ने उसके मार्ग में बाधक न होकर अनुमति दे दी। सभी बन्धु-बान्धव निमन्त्रित किये गये। कैथरिन संन्यासिनी का वस्त्र धारण करके उपासना-मन्दिर में उपस्थित हुई। उस समय उसके मुख-मण्डल पर अभूतपूर्व तेज था। ईश्वरीय-ज्योति से उसका चेहरा जगमगा रहा था। वह देव-कन्या-सी जान पड़ती थी। पुजारियों ने प्रार्थना की और उसे नियमानुसार दीक्षा दी। वह संन्यासिनी हो गयी। तीन वर्ष तक उसने मौन व्रत धारण किया। यह अत्यन्त कठिन व्रत था, परन्तु उसने बड़ी सफलता-पूर्वक इसका पालन किया।

संन्यास आश्रम में प्रवेश

छोटी अवस्था के ईश्वर-भक्तों पर अनेक प्रकार की विपत्तियाँ आती हैं। उन्हें पथ-भ्रष्ट करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलोभन सामने आते हैं। कैथरिन को भी अनेक विपत्तियों का सामना करना पड़ा। वह स्त्री थी और यौवन के पालने में झूल रही थी। कामी पुरुष पतिंगे की तरह उस दीप-शिखा पर टूट रहे थे। इस आक्रमण से एक बार तो वह अचेत-सी हो गयी; परन्तु फिर उसे अपने उद्देश्य का स्मरण आया। वह सजग हो गयी। अब उसे अपने अन्तस्तल में ईश्वरीय ज्योति का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। सांसारिक प्रलोभन उसका कुछ भी न बिगाड़ सके। वह तप्त स्वर्ण की भाँति और भी निखर उठी। एक बार एक दुराचारी उसके पास आया। उसने उसे पथ-भ्रष्ट करने की चेष्टा की। कैथरिन वासना की उस सजीव मूर्ति को देखकर सिहर उठी।

विषय-वासनाओं पर विजय

अपने बचाव का कोई उपाय न देखकर वह भक्त-वत्सल भगवान से कातर स्वर में प्रार्थना करने लगी। पापी का हृदय बदल गया। वह कैथरिन

के चरणों पर गिर पड़ा। दुराचारी सदाचारी बन गया। उसने कैथरिन को एक सुन्दर मकान भेंट में दिया। कैथरिन ने इसी मकान में अपने आश्रम की स्थापना की।

बाल्यावस्था ही से कैथरिन के ईश्वरीय प्रेम की चर्चा चारों ओर फैल रही थी। संन्यास लेने पर तो उसकी सुख्याति और भी फैलने लगी। झुण्ड के झुण्ड नर-नारी उसके दर्शन के लिए आने लगे। कैथरिन सब को अमृतमय उपदेश देती थी और यथाशक्ति उनका संकट दूर करने की चेष्टा करती थी। दीनों की सेवा करना उसने अपना मुख्य कार्य बना लिया था। सन् १३७० ई० में उसके पिता का स्वर्गवास हो गया, इसलिए वह अपने घर चली गयी और वहाँ दीन-दुखियों की सेवा में रहने लगी। सन् १३७४ ई० में देश में भयंकर महामारी फैली। हज़ारों मनुष्य मरने लगे। कैथरिन ने दिन-रात पीड़ितों की सहायता की। वह देवी की तरह लोगों को सान्त्वना देती थी। इस प्रकार की लोक-सेवा ने उसे जनता के हृदय में अमिट स्थान प्राप्त करा दिया था। वह देवी की तरह पूजी जा रही थी।

सन् १३७५ ई० में फ्लोरेंस नगर में कुछ लोगों ने रोम के पोप के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। कैथरिन के प्रति जनता का विश्वास देखकर न्यायाधीशों तथा पोप ने इस विद्रोह को शान्त करने का भार उसी को दे दिया। उसने बड़ी कार्य-कुशलतासे झगड़ा शान्त कर दिया। इससे बड़े-बड़े लोग उसकी ओर श्रद्धा से देखने लगे।

कैथरिन बड़ी दयावान थी। वह दूसरों को दुःख से मुक्त करने के लिए स्वयं दुखाग्नि में कूद पड़ती थी। एक बार पेरुगुआ के एक नवयुवक भू-

लोक-सेवा

पति को वहाँ की सरकार ने शासन कार्य की तीव्र आलोचना करने के अभियोग में प्राण-दण्ड की सज़ा दी। कैथरिन को जब उसकी सज़ा का हाल मालूम हुआ तब वह स्वयं वहाँ गयी। उसने युवक को बहुत समझाया और ईश्वर में विश्वास करने का उपदेश दिया। युवक को बड़ी सान्त्वना मिली। कैथरिन उसी के पास रहने लगी। जब प्राण-दण्ड का समय आया तब दोनों ने मिलकर प्रार्थना

की। कैथरिन उस युवक को प्राण-दण्ड से मुक्त कराने के लिए स्वयं आगे बढ़ गयी। उसने फाँसी के तख़्ते पर अपना सर रख दिया, परन्तु सरकार ने इस बात को स्वीकार नहीं किया। अन्त में उस युवक को फाँसी दे दी गयी, परन्तु मरते समय उसके मुख पर विषाद की रेखा नहीं थी। वह हँसते-हँसते मौत को अपना रहा था। कैसी दिव्य शिक्षा थी उस देवी की! एक युवक जो मृत्यु-दण्ड का समाचार पाकर ईश्वर को गालियाँ दे रहा था प्रसन्नता-पूर्वक ईश्वर का नाम लेते हुए फाँसी के तख़्ते पर झूल गया! सन्त महात्माओं के उपदेशों में ऐसा ही चमत्कार होता है।

कैथरिन त्यागिनी थी तपस्विनी थी। वह पराये दुःख को अपना दुःख समझती थी। एक बार टेक्का नाम की एक स्त्री को असाध्य कोढ़ हो गया। उसके घावों से इतनी दुर्गन्ध आती थी कि कोई उसके निकट खड़ा नहीं होता था। कैथरिन ने उसकी सेवा का भार अपने ऊपर लिया। यह कार्य उसके कुटुम्बवालों को बहुत ही अनुचित जान पड़ा; परन्तु करुणा की मूर्ति कैथरिन उसकी सेवा से नहीं हटी। वह अहर्निशि उसके पास रहकर चिकित्सा करती रही। इसी प्रकार उसने एंण्ड्रिया नामक एक संन्यासिनी की भी सेवा की। वह बड़ी ईर्ष्यालु थी। कैथरिन से बहुत द्वेष रखती थी। वह कैथरिन की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा नहीं देख सकती थी। अन्त में उसने उसके चरित्र पर दोष लगाकर बदनाम करने की चेष्टा की, परन्तु इसका फल कुछ भी न हुआ। विवश होकर एण्ड्रिया ने उससे क्षमा-याचना की।

कैथरिन का जीवन दिव्य जीवन था। उसने अपने उपदेशों द्वारा बहुत-से पापियों का सुधार किया था। इस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हुए २९ अप्रैल सन् १३८० ई० को वह परलोक-वासिनी हुई।

तीन सूंग बहनें

सूँग बहनें वर्तमान चीन की सबसे अधिक उल्लेखनीय महिलाएँ हैं। अपनी तीव्र बुद्धि, संगठन-शक्ति, वाक्पटुता और आकर्षण के कारण वे किसी भी समाज में अग्रणी-पद प्राप्त कर सकती हैं। चीन के वर्तमान महिला-समाज के सर्वोत्तम गुणों का ही वे प्रतिनिधित्व नहीं करतीं वरन् चीनी महिलाओं के उस समस्त प्रयत्न का भी जो वे स्वतंत्रता के युद्ध के लिए पुरुषों के साथ कंधे-से कंधा भिड़ाकर कर रही हैं। तीनों बहनों का व्यक्तित्व अलग-अलग है और प्रत्येक ने अपने-अपने ढंग से चीन को सहायता पहुँचायी है।

इन तीनों बहिनों के पिता चार्ल्स जोंस सुँग क्वांगतुंग प्रान्त के रहने वाले थे। बाल्यावस्था ही में ग़रीबी के कारण वह सन् १८७६ ई० में अमेरिका चले गये। वहीं उन्होंने शिक्षा पाई और कुछ दिनों तक

परिवार

एक स्कूल में पढ़ने के पश्चात् वैण्डरबिल्ट-विश्वविद्यालय में नौकरी कर ली। ईसाई-धर्म से उन्हें विशेष प्रेम था। इसलिए वह इसी धर्म में दीक्षित होकर चीन चले आये और एक स्कूल में अध्यापक के पद पर नियुक्त किये गये। यहाँ उन्होंने ईसाई-धर्म का प्रचार भी किया और शंघाई में नवयुवक ईसाइयों की एक सभा स्थापित की। इसके पश्चात् उन्होंने क्यांगसू प्रान्त की एक ईसाई महिला से अपना विवाह किया। इस महिला से तीन पुत्रियाँ और तीन पुत्र उत्पन्न हुए।

चार्ल्स जोंस सूँग ने अपने बच्चों को पहले ईसाई-धर्म की शिक्षा दी। वह उन्हें चीन के एक धार्मिक विद्यालय में पढ़ने के लिए भेजा करते थे। वहाँ की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने अपने

शिक्षा

पुत्र-पुत्रियों को ऊँची शिक्षा प्राप्त कराने के लिए अमेरिका भेज दिया। अपने देश से इतनी दूर रहने पर भी उन

बालक-बालिकाओं ने चीन की क्रान्ति में विशेष रूप से भाग लिया और शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् जब वह अपने देश को लौटीं तब उन्होंने क्रियात्मक रूप से उसमें भाग लेना शुरू कर दिया।

सूंग बहनों में सबसे बड़ी बहन इलिंग हैं। उनका जन्म सन् १८८८ ई० में हुआ था। उन्होंने शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने देश की ओर पदार्पण किया। उस समय चीन में क्रान्तिकारी आन्दोलन तीव्र गति से चल रहा था। इसलिए उन्होंने इसमें भाग लेना शुरू कर दिया। डाक्टर सनयातसेन ने उनकी रुचि और प्रतिभा देखकर उन्हें अपना मंत्री बना लिया। थोड़े दिनों बाद दोनों में इतना प्रेम बढ़ गया कि डाक्टर सनयातसेन ने उनसे विवाह की इच्छा प्रकट की; परन्तु उन्होंने चीन के अर्थ-मंत्री डा० एच० एच० कुंग से अपना विवाह किया। इस प्रकार वह इलिंग से मैडम एच० एच० कुंग हो गयीं। इस समय उनके चार बच्चे हैं। डेविड कुंग उनका सबसे बड़ा पुत्र है। वह सेण्ट्रल ट्रस्ट कम्पनी का मैनेजिंग डाइरेक्टर है।

१. मैडम एच० एच० कुंग

मैडम एच० एच० कुंग बड़ी वीर महिला हैं। उनमें आत्म-सम्मान की मात्रा बहुत अधिक है। वह अर्थशास्त्र की विशेषज्ञा हैं और अपने पति को इस विषय में अच्छी से अच्छी सलाह देती हैं। दोनों बहनों की अपेक्षा उनका दृष्टिकोण अधिक व्यापक है। व्यापार के कामों में उन्हें बड़ा आनन्द आता है। वह अन्य सार्वजनिक कार्यों में कम भाग लेती हैं। जब अगस्त १९३७ में जापान ने चीन पर आक्रमण किया तब श्रीमती कुंग युद्ध-कार्य में तत्परता से संलग्न हो गयीं। उस समय उन्होंने अपनी संगठन-शक्ति और कार्यकुशलता का परिचय दिया। उन्होंने अपनी निजी रक़म से आहतों को ले जानेवाली मोटरों का प्रबन्ध किया और ऋण-पत्रों की बिक्री का प्रबंध किया। उन्होंने औद्योगिक सहकारिता समितियों की भी पूरी सहायता की। वस्त्र तथा अन्य उद्योगों में भी उनकी विशेष रुचि है। उनमें धन प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रहती है और वह इसके लिए बराबर उपाय सोचा करती हैं। इससे उनके पास काफ़ी धन हो गया है। क्यांग काई शेक पर उनका विशेष स्नेह

रहता है और वह धन से उनकी सहायता भी किया करती हैं।

मैडम सनयातसेन दूसरी बहन हैं। उनका जन्म सन् १८८९ ई० में हुआ था। इस प्रकार वह अपनी बड़ी बहन से दो वर्ष छोटी हैं। बचपन में लोग उन्हें चिंगनिंग सूँग कहते थे। तीनों बहिनों की प्रारंभिक शिक्षा शंघाई में एक साथ हुई थी। स्कूल की शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् उन्होंने ज्यार्जिया के वेस्लियन कालेज में पढ़ाई शुरू की। वहाँ से अपने देश में आने पर उन्हें डाक्टर सनयातसेन के यहाँ नौकरी मिल गयी। कुछ दिनों तक उन्होंने उनके मन्त्री के पद पर काम किया। इसी बीच दोनों में प्रेम हो गया और अन्त में दोनों ने विवाह कर लिया। उस समय उनकी आयु २० वर्ष की थी।

२. मैडम सनयातसेन

मैडम सनयातसेन ने राष्ट्रीय कामों में अपने पति की बड़ी सहायता की है। उनका प्रोग्राम बनाना, स्पीचें तैयार करना, कठिन अवसरों पर उचित मार्ग बताना तथा लिखने-पढ़ने का कुल कार्य मैडम सनयातसेन ही करती थीं। अपने पति के अन्तिम दिनों तक उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की। १२ मार्च सन् १९२५ ई० को उनके पति का देहान्त हो गया।

अपने पति की मृत्यु के पश्चात् उन्होंने कुओमिंगतांग स्कूल में उनका कार्य जारी रखा और कुओमिंगतांग-दल की प्रधान कार्य-समिति में भी काम किया। जब श्री च्यांग काई-शेक और कम्यूनिस्टों के बीच मत-भेद उत्पन्न हो गया तब वह सार्वजनिक जीवन से अलग हो गयीं। बिदाई के सन्देश में उन्होंने अनुरोध किया कि सर्वसाधारण और जनता के आधार पर नवीन चीन का निर्माण किया जाय। देहात के लोग आज सर्वत्र जो छापामार लड़ाई लड़ रहे हैं, उससे उनकी भविष्य वाणी की पुष्टि होती है। तीनों बहनों में सबसे पहले श्रीमती सेन ने औद्योगिक सहकारिता-समिति के आन्दोलन में रुचि प्रकट की थी और उसे क्रियात्मक सहयोग प्रदान किया था।

मैडम सनयातसेन श्रेष्ठ चरित्र की अत्यन्त रूपवती महिला हैं। उनकी बोली बड़ी मधुर है। उनका स्वास्थ्य इतना अच्छा है कि वह इस समय भी २८-२९ वर्ष की युवती-सी जान पड़ती हैं। हांको-सरकार के पतन के पश्चात्

वह कई वर्ष तक मास्कों में भी रह चुकी हैं। उनमें त्याग की मात्रा अपनी अन्य बहनों की अपेक्षा अधिक है। उन्होंने अपने राष्ट्र के कल्याण के लिए अपना परिवार, अपना धन और अपनी समस्त सुविधाएँ त्याग दी हैं। वह अपने पास एक पाई भी नहीं रखतीं। जो धन उनके पास आता है उसे वह पीड़ितों की सहायता के लिए दे देती हैं। इस समय वह कामिटैंग की केन्द्रीय कार्यकारिणी-समिति की सदस्या हैं और हाँगकाँग में एकान्त जीवन व्यतीत कर रही हैं। एक स्त्री इससे अधिक और क्या त्याग कर सकती है !

३. मैडम च्यॉंग काई शेक

मैडम च्यांग काई शेक सब से छोटी बहन हैं। उनका जन्म सन् १८६८ ई० में हुआ था। बाल्यावस्था में उनका नाम मिलिंग सूँग था। उन्होंने बचपन ही से अमेरिका में शिक्षा पायी थी। इसलिए उन्हें चीनी भाषा का अच्छा ज्ञान नहीं है। उनका विवाह च्यांग काई शेक के साथ पहली दिसम्बर सन् १९२७ ई० को हुआ था। कैण्टन में पहले पहल च्यांग काई शेक से उनकी भेंट हुई। च्यांग काई शेक उन पर मोहित हो गये। वह इससे पहले अपनी पहली पत्नी, कुमारी माओ का परित्याग कर चुके थे। अब वह कुमारी मिलिंग सूँग से विवाह करना चाहते थे। इस विवाह के लिए कुमारी मिलिंग के माता-पिता की अनुमति नहीं थी। इसलिए विवाह ठीक न हो सका। अन्त में सन् १९२१ ई० में कुमार मिलिंग सूँग ने अपनी अस्वीकृत दे दी फिर भी च्यांग काई शेक ने पीछा नहीं छोड़ा। युद्ध के काम में विघ्न पड़ने लगा। आन्दोलन के कार्य में शिथिलता आ गयी; कैण्टन, हाँको, शंघाई की खाक छान डाली गयी परन्तु कुछ भी नतीजा न निकला। अन्त में एक दिन मैडम कुंग मिलिंग को लेकर आयीं और विवाह हो गया। च्यांग काई शेक ने इस अवसर पर दस हज़ार पौण्ड व्यय किया और लगभग एक हज़ार व्यक्तियों को मैजिस्टिक होटल में दावत दी। इस प्रकार उन्हें जो जीवन-संगिनी मिली उसने चीन के इतिहास में अपना तथा अपने स्वामी का नाम अमर कर दिया।

मैडम च्यांग काई शेक की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। उसकी शक्ति उत्साह और व्यावहारिक योग्यता की परीक्षा विविध क्षेत्रों में हो चुकी है। उ॰

चीनी वायु-सेना का सङ्गठन किया है। वह जनरलिस्मो के समस्त विदेशी पत्र व्यवहार का कार्य करती हैं; महिलाओं के युद्ध कार्य का सञ्चालन करती हैं और उन शिक्षकों को स्वयं ट्रेनिंग देती हैं जो देहात में जाकर स्वास्थ्य-केन्द्रों का संगठन करते हैं। उन्होंने कितने ही युद्ध-अनाथालय स्थापित किये हैं। इन अनाथालयों में हज़ारों गृह-विहीन बच्चों का पालन-पोषण होता है और उन्हें शिक्षा दी जाती है। हाल में उन्होंने अमेरिका-कांग्रेस के सम्मुख जो भाषण दिया था उसके सम्बंध में कहा गया है कि विदेशी-राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने अब तक जितने भाषण दिए हैं उनमें वह श्रेष्ठतम था।

लोक-सेवाएँ

मैडम च्यांग काई शेक पर अमेरिका के रीति-रिवाजों का अधिक प्रभाव पड़ा है। उनका रहन-सहन बिलकुल अमेरिका की स्त्रियों का सा है। वह अत्यन्त सुन्दर हैं। मैडम सनयातसेन की भाँति वह अत्यंत मधुर भाषिणी और सर्वप्रिय हैं। वह बड़ी सतर्क, दूरदर्शी और विनम्र स्वभाव की हैं। चीन में उनका द्वितीय स्थान है। च्यांगकाई शेक के बाद जनता पर उन्हीं का प्रभाव है। वह पति-परायण हैं। अपने पति के कामों में वह अधिक हस्तक्षेप नहीं करतीं। कभी-कभी विकट समस्याएँ उपस्थित होने पर वह अपने पति को उचित परामर्श देती हैं। वह विदेशियों के सम्पर्क में अधिक रहती हैं। च्यांग काई शेक ने विदेशी विभाग का बहुत-कुछ कार्य उन्हीं के हाथों में दे दिया है। वह इस कार्य को बड़ी चतुरता से सम्पादित करती हैं। वस्तु-कला से उन्हें विशेष प्रेम है। वह प्रत्येक कार्य अपने हाथों से करती हैं। उनमें अद्भुत साहस और समय वही पति का उनमें इतना अधिक विश्वास है कि हवाई आक्रमण के वीरता है। आगे भेजी जाती हैं। देहातों में जाकर उन्होंने अमूल्य सेवाएँ की हैं। वहाँ उन्होंने ग्राम-वासियों का संगठन और बच्चों की शिक्षा का प्रशंसनीय कार्य किया है। समस्त चीन में बड़ी-बड़ी सभाएँ होती हैं और किसानों को सफ़ाई, सदाचार तथा मद्य-निषेध की शिक्षाएँ दी जाती हैं। चीन में यह आन्दोलन 'नवजीवन' के नाम से प्रसिद्ध है।

चरित्र

जापान से युद्ध छिड़ने के पहले मैडम च्यांग काई शेक अपने पति के लिए व्याख्यान तैयार करती थीं; उनकी चिट्ठियाँ छापती थी और उन्हें राजकीय मामलों में परामर्श देती थीं। उन्हें अँगरेज़ी और फ्रेंच भाषा का अच्छा ज्ञान है। इस समय वह वायुयान-सेना-विभाग की मंत्राणी हैं। उन्होंने चीन के सम्बन्ध में एक पुस्तक भी लिखी है जिसमें उन्होंने चीन के सामाजिक जीवन का अच्छा चित्रण किया है। प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण उनकी दृष्टि चारों ओर जाती है। अभी थोड़े दिन हुए इँग्लैंड में एक चीन-सहायक-संस्था स्थापित हुई थी। मैडम च्यांग काई शेक का इस संस्था से घनिष्ट सम्बंध है। इस संस्था की ओर से युद्धस्थल के घायल सैनिकों की मरहमपट्टी के लिए हर प्रकार की सामग्री इकट्ठी की जाती है। मरे हुए सिपाहियों के बाल-बच्चों के लिए भी यही संस्था प्रबन्ध करती है। मैडम च्यांग काई शेक में अद्भुत बुद्धि और आकर्षण है। एक बार शान्सी प्रान्त में च्यांग काई शेक के बन्दी हो जाने पर वह वहाँ वायुयान द्वारा पहुँचीं और समझौता कराकर उन्हें छुड़ा लायीं। इससे उनकी लोक-प्रियता और प्रभाव का अच्छा नमूना मिलता है।

मैडम च्यांग काई शेक अमेरिका के कालेज की ग्रेजुएट हैं। सच्चरित्रता में उनका बहुत विश्वास है। सादगी और सदाचार ही उनके शरीर के आभूषण हैं। विलासपूर्ण जीवन से उन्हें हार्दिक घृणा है। वह नव-जीवन-आन्दोलन की प्रमुख संचालिका हैं। यह आन्दोलन राजनीतिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित है।

नारी-आन्दोलन

स्त्रियों की उन्नति के लिए इस आन्दोलन में विशेष महत्व दिया गया है। स्त्रियों के आठ कर्त्तव्य निर्धारित किये गये हैं। वह भक्ति, पवित्रता, प्रेम, पितृभक्ति, पतिव्रत धर्म, शान्ति-प्रियता, न्यायप्रियता तथा निर्भीकता पर बहुत ज़ोर देती हैं। स्त्रियों के लिए वह निम्नलिखित वस्तुएँ भी आवश्यक समझती हैं। शरीर को ढकनेवाले वस्त्र पहनना, सड़क पर पायजामें पहनकर न निकलना, चुम्बन न करना, सिगरेट कभी न पीना तथा अफ़ीम का प्रयोग न करना। उन्होंने इन बातों की पाबन्दी चीनी-स्त्रियों पर लागू कर दी है।

गुप्तचर और पुलिस की देख-रेख में यह सारा काम हो रहा है। स्नान करने के स्थान भी बना दिये गये हैं। चरित्र की निर्मलता पर बड़ा ज़ोर दिया जा रहा है। इससे फ़ैशन-परस्त युवतियो को कड़ी चेतावनी मिली है।